शुद्ध-भक्ति

(सम्बन्ध-अभिधेय-प्रयोजन)

श्रीश्रील भक्तिबल्लभ तीर्थ गोस्वामी महाराज

प्रथम संस्करण
श्रीराम नवमी एवं
श्रीश्रील भक्ति बल्लभ तीर्थ गोस्वामी महाराज जी
का 91वां आविर्भाव तिथि पूजा महामहोत्सव
28 मार्च, 2015

भूमिका

वेदों में तीन प्रकार के विषयों पर चर्चा की गई है। संस्कृत में इन्हें सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन कहते हैं। सम्बन्ध का अर्थ है परम सत्य की प्रकृति—भगवान् कौन हैं, आत्मा और इस दृश्यमान जगत का नित्य स्वरूप क्या है एवं इनका एक-दूसरे से क्या सम्बन्ध है? सम्बन्ध-ज्ञान होने के बाद ही साधन प्रारम्भ होता है; इसे अभिधेय कहते हैं। साधन अनेक प्रकार के होते हैं किन्तु वास्तव साधन है—भक्ति। तो फिर हमारा चरम लक्ष्य अर्थात् प्रयोजन क्या है? हमारा चरम लक्ष्य है कृष्ण-प्रेम प्राप्ति।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं कि वे ही सब कारणों के कारण हैं। वास्तव में श्रीकृष्ण को ही भगवान् कहा जाता है क्योंकि हम उनके साथ सब प्रकार के सम्बन्ध अनुभव कर सकते हैं।

एक बार श्रीकृष्ण को चरम लक्ष्य के रूप में जान लेने पर कृष्णप्रेम की प्राप्ति कैसे होगी? श्रीकृष्ण को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है—भक्ति। भक्ति ही साधन है और हमारे जीवन और साधन का चरम लक्ष्य है—अप्राकृत कृष्ण-प्रेम की प्राप्ति। वेदों में वर्णित चारों पुरुषार्थ, यथा—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष में से कोई भी जीवन

का चरम लक्ष्य नहीं है। धर्म का अर्थ है ऊपर के लोकों की प्राप्ति हेतु किए गये जागतिक त्याग। अगर हमारी धर्म करने की इच्छा है तो हमें वास्तव धन—कृष्ण-प्रेम नहीं प्राप्त होगा। अर्थ का आशय है जागतिक धन, काम का आशय है कामना-वासना की पूर्ति और मोक्ष का आशय है मुक्ति की इच्छा। पर इनमें से कोई भी वस्तु हमें जीवन के चरम लक्ष्य अर्थात् कृष्ण-प्रेम तक नहीं ले जा सकती। कृष्ण-प्रेम प्राप्त करने के लिए हमें भक्ति करनी होगी। हमारा जीवन भक्ति करने के लिए ही है इसलिए हमें एक पल भी समय व्यर्थ किये बिना भक्ति प्रारम्भ कर देनी चाहिए।

हरे कृष्ण!

विषय-सूची

परिव्राजकाचार्य त्रिदण्डिस्वामी ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत
श्रीश्रीमद् भक्ति बल्लभ तीर्थ गोस्वामी महाराज जी
की 91वीं आविर्भाव तिथि पूजा के शुभ अवसर पर
उनकी ही वस्तु उन्हीं के कर कमलों में सादर समर्पित है।

।। श्रीश्रीगुरु-गौरांगौ जयतः ।।

शुद्ध-भक्ति

सम्बन्ध

वास्तविक सत्य के विषय में हमारी क्या धारणा है? भगवान् कौन हैं? इस भौतिक जगत की चेतन वस्तु अर्थात् जीव कौन है? भगवान्, जीव और इस संसार का एक-दूसरे के साथ क्या सम्बन्ध है? संस्कृत भाषा में, इस तत्त्व से सम्बन्धित ज्ञान को ही 'सम्बन्ध' कहते हैं। इन विषयों की जानकारी विस्तृत रूप से वेदों में उल्लिखित है। पूर्वकाल में सभी सन्तों ऋषि-मुनियों ने भी अपनी-अपनी बोध शक्ति के अनुसार इनका अभिप्राय प्रकाशित किया है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु जी ने इन वेदों को आधार बनाकर ही अपने अप्राकृत प्रेम के सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार किया। श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी जी ने इसे संक्षेप में समझाया है :

वेदशास्त्र कहे—'सम्बन्ध', 'अभिधेय', 'प्रयोजन'।
'कृष्ण'—प्राप्य-सम्बन्ध, 'भक्ति'—प्राप्येर साधन।।

(चै. च. मध्य 20/124-125)

वेदों के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य क्या है? लक्ष्य है—भगवान् श्रीकृष्ण के लिए अप्राकृत प्रेम। 'कृष्ण'-शब्द का मूल अर्थ है—''वह जो सबको आकर्षित करके सुख प्रदान करता है। कृष्ण सर्व-आकर्षक तत्त्व हैं। हमें आकर्षित करने वाले उनमें असंख्य गुण हैं और इसीलिए वे सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं। वे सब प्रकार की सत्ता, ज्ञान एवं आनन्द के विग्रह स्वरूप हैं।

उनके समान या उनसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। एक से अधिक परमतत्त्व या अनन्त-वस्तु नहीं हो सकती। यदि अनन्त की व्याख्या के बाहर कुछ अवस्थित है तो अनन्तता का कोई अर्थ नहीं रह जाता और तब वह असीम, सीमित तत्त्व हो जाता है।

परमतत्त्व या अनन्त के बाहर धूल के एक कण की अवस्थिती भी कल्पित नहीं की जा सकती। परमतत्त्व का तात्पर्य है—वह जो स्वयं के भीतर, स्वयं के लिए और स्वयं के द्वारा अवस्थित है। सब कुछ श्रीकृष्ण के भीतर एवं उन्हीं की सेवा के लिए है।

अनन्त एक हैं और उनकी अपनी एक निजी पहचान है। भगवान् सर्व-चेतनमय वस्तु हैं। चेतनता के द्वारा तीन वस्तुएँ अभिहित होती हैं—ज्ञान, क्रिया और इच्छा। जब हम इस जगत के जीवित प्राणियों की ओर देखेंगे, तब हम यह जान पायेंगे कि इस शरीर को व्यक्ति या चेतन वस्तु की संज्ञा हम तभी तक देते हैं जब तक इसमें आत्मा विद्यमान रहती है। जिसमें ज्ञान, क्रिया व इच्छा रूपी चेतनता नहीं है वह वस्तु मात्र है और कोई भी मृत या अचेतन वस्तु को व्यक्ति नहीं कहता।

सम्बन्ध

परमतत्त्व-चेतन वस्तु के सर्वश्रेष्ठ पहलू को भगवान् कहते हैं। उनमें चेतनता के तीनों गुण पूर्ण मात्रा में विद्यमान होते हैं। यदि हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि एक जीवात्मा एक व्यक्ति है तब इस बात को मानने में क्या आपत्ति है कि पूर्ण चेतनता भी व्यक्तिगत है? वे असीम पुरुष हैं। उनका अपना एक अनोखा निजी स्वरूप होने के बावजूद, वे अनन्त हैं और असंख्स रूपों एवं लीलाओं को प्रदर्शित करते हैं।

जब कोई व्यक्ति राजा होकर राजगद्दी पर बैठता है तो उसकी एक विशेष वेष-भूषा होती है, परन्तु जब वही राजा अपने मनोरंजन के लिए खेल-कूद के मैदान में जाता है तो उसकी वेशभूषा भिन्न होती है। यही नहीं जब वह सोने के लिए अपने बिस्तर पर लेटता है तब उसकी पोषाक कोई और होती है। अब आप ध्यान दीजिए कि इन अलग-अलग पोषाकों के फेर-बदल में, केवल बाहरी वस्त्र बदलते हैं, व्यक्ति वही रहता है। यही बात भगवान् पर भी लागू होती है। वे केवल अपने प्रिय भक्तों को आनन्द प्रदान करने हेतु अलग-अलग रूप एवं लीला को धारण करते हैं।

एक पुरुष के स्वरूप में भी भगवान् असीम रहते हैं। उनके धाम असंख्य हैं और असंख्य जीव उनसे उद्भूत होते हैं। साधारण मनुष्य अपनी सीमित बुद्धि और ससीम भौतिक इन्द्रियों के द्वारा भगवान् की सृष्टि का पार नहीं पा सकते। अपनी निज शक्ति के द्वारा उनको जानने की हमारी सभी चेष्टाओं से, वे परे हैं।

....

कोई भी वस्तु शून्य से उत्पन्न नहीं हो सकती। हर वस्तु का कुछ न कुछ आधार तो होता ही है। सभी सृष्ट वस्तुओं का स्वयं को छोड़कर कोई न कोई कारण तो अवश्यमभावी होता है। हम सूर्य (वस्तु) की उन किरणों के कण के समान हैं जो सूर्य से उत्पन्न होती हैं। जिस प्रकार सूर्य चमकता है, उसी प्रकार उसके कण भी चमकते हैं। इसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ भगवान् सब प्रकार की शक्तियों के स्वामी हैं और जिस प्रकार सूर्य से किरणें निकलती हैं ठीक उसी प्रकार जीव भगवान् की असंख्य शक्तियों में से एक (तटस्था शक्ति) से उद्भूत होते हैं। अनु-आत्मा भगवान् में है, भगवान् से है, भगवान् के लिए है, भगवान् के द्वारा है। परन्तु, जिस प्रकार सूर्य और सूर्य की किरणें एक समान नहीं हो सकती ठीक उसी प्रकार भगवान् और अनु-आत्मा (जीव) समान नहीं हैं। अनु-आत्मा कभी परमात्मा के बराबर नहीं हो सकती।

श्रीमद्भगवद्गीता (7/7) में भगवान् विशेष रूप से कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।

''अन्य कुछ भी मुझसे श्रेष्ठ नहीं है। सम्पूर्ण सृष्टि मुझसे उद्भूत है। मैं बद्ध-जीवों की बोध शक्ति से परे हूँ। मैं ज्ञानी और योगियों के द्वारा लक्षित वस्तु, निराकार ब्रह्म और अंतर्निवासी परमात्मा से भी बहुत श्रेष्ठ हूँ।''

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्तत्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।

—(गीता 4/9)

मेरे जन्म और लीलाएँ सब अप्राकृत हैं। साधारण मनुष्य का जन्म तो उसके पूर्व कर्मों द्वारा प्रभावित होता है परन्तु मेरा अवतरण मेरे शुद्ध-भक्तों को आनन्द प्रदान हेतु केवल एक लीला मात्र है। वात्सल्य रस की सेवा प्रदान करने के लिए मैं उन्हें माता-पिता के रूप में ग्रहण करता हूँ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।।

—(गीता 4/6)

अजन्मा, अविनाशी एवं समस्त जीवों का ईश्वर होते हुए भी मैं अपनी योगमाया के द्वारा अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का अवलम्बन कर आर्विभूत होता हूँ।

''मेरा जन्म नहीं होता लेकिन मैं अपने वात्सल्य रस के भक्तों की इच्छा पूर्ती कर उन्हें केवल आनन्द प्रदान करने के लिए इन लालाओं को करता हूँ। मेरी त्रिगुणमयी माया शक्ति (सत्त्व, रज, तम) द्वारा आवृत बद्ध-जीव मुझे नश्वर शरीर धारण किये हुआ एक साधारण मनुष्य समझते हैं।''

यह सोचना कि भगवान् श्रीकृष्ण हमारी तरह जन्म ग्रहण करते हैं, एक बहुत बड़ी भूल है। भगवत् सम्बन्धी अन्य तत्त्वों की भाँति, भगवान् श्रीकृष्ण की जन्म-लीला में भी आकृतिक एवं दार्शनिक (रूपात्मक, सकारात्मक), दोनों पहलू विद्यमान हैं। अपनी प्राकृत इन्द्रियों व प्राकृत बुद्धि के द्वारा, हम, किसी वस्तु का केवल बाहरी या रूपात्मक (दृष्टिगोचर) पहलू तो जान सकते हैं परन्तु उसके तात्त्विक पहलू को जान पाना बहुत कठिन है।

आईये इस विषय को और विस्तार से समझें। जर्मन देशीय ईम्मानील कांत पाश्चात्य दर्शन जगत के एक बुद्धिमान दार्शनिक विचारक थे।

अपनी आलोचनात्मक दर्शन शैली में उन्होंने ऊपर बताए तत्त्वों को ''यथा दर्शन वस्तु'' और ''स्वयं में अवस्थित वस्तु'' या ''जैसी है वैसी ही वस्तु'' से सम्बोधित किया है। कांत के अनुसार, किसी वस्तु को हम उसी प्रकार समझ सकते हैं जिस प्रकार वह स्वयं प्रतीत होती है, किन्तु उसके तत्त्व को या फिर ''वह जैसा है वैसा ही'' पहलू को जानना हमारी योग्यता के बाहर है।

अपनी पुस्तक 'क्रिटीक ऑफ पिओर रीसन' में कांत अपनी धारणा को प्रमाणित करने के लिए बहुत सारे तर्क प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य, किसी वस्तु को उतना तक ही जान सकते हैं जितने तक वह वस्तु उनकी भौतिक इन्द्रियों और सीमित बुद्धि को प्रतीत होती है। मनुष्य, अपनी इन्द्रियों के द्वारा किसी वस्तु के रूप का बोध कर सकते हैं और अपनी बुद्धि के द्वारा उनको अलग-अलग श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। यह सूझ-बूझ एक विशेष योग्यता है जिसे 'प्रियोरी' कहते हैं। किसी वस्तु को जैसी वह दिखती है वैसे ही जानने की सूझ-बूझ मनुष्य की साधारण बोध शक्ति में ही अन्तर्हित होती है। परन्तु 'स्वयं में अवस्थित वस्तु' को जानने की शक्ति मनुष्य में नहीं है। यही कांत की दार्शनिक शैली का आधार है।

एक अन्य जर्मन दार्शनिक, हेगल ने कांत की मान्यता का खंडन करने की चेष्टा की थी। हेगल के अनुसार,

हम किसी 'स्वयं में अवस्थित वस्तु' के तात्त्विक ज्ञान को मीमांसात्मक (कल्पित) तर्क के द्वारा जान सकते हैं। ब्रैडली, एक ब्रिटिश फिलॉसोफर (दर्शन शास्त्रि) ने भी इस समस्या का विस्तारपूर्वक विवेचन किया था। इनका कहना था कि हम केवल तर्क के द्वारा 'स्वयं में अवस्थित वस्तु' के सम्पर्क में नहीं आ सकते बल्कि हम उनके सम्बन्ध में ज्ञान तात्कालिक अनुभूति एवं भावना के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं, जिससे वह वस्तु हमारे समक्ष प्रतीत होती है। नहीं तो, केवल अपनी तर्क करने की योग्यता के आधार पर हम वस्तुओं का गूढ़ रहस्य नहीं जान सकते। अवश्मभावी है कि तर्क और तर्क के लक्ष्य, के मध्य एक फाँसला होगा, और यही हमें उस 'स्वयं में अवस्थित वस्तु' के संग से दूर रखता है।

अब इन दर्शन-शास्त्रियों ने अपने जड़ अभिमान के द्वारा वास्तविक सत्य को जानने का प्रयास किया है। परन्तु, आप ज़रा विचार कीजिए कि फिलॉसोफी (दर्शन शास्त्र) का वास्तविक अर्थ क्या है? 'फिलो-सोफिया' अर्थात् ज्ञान से प्रेम। पर आखिर वे किस प्रकार के ज्ञान की खोज करते हैं? वे केवल अपनी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि द्वारा प्राप्य, अपने अनुभव में आने वाले ज्ञान की चाह करते हैं।

श्रीभगवद्गीता में मन और बुद्धि को भगवान् की परा शक्ति—माया की सम्पत्ति कहा गया है। गीता जी के अनुसार, अप्राकृत तत्त्व को भौतिक वस्तु, चाहे सूक्ष्म या स्थूल, द्वारा नहीं जाना जा सकता। परन्तु इस भौतिक जगत में हम सब समय उस वास्तविक सत्य को अपनी भौतिक इन्द्रियों की अनुभव शक्ति द्वारा जानने की चेष्टा करते रहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता

जैसे प्रमाणिक शास्त्रों में उल्लिखित भारतीय (फिलॉसोफी) दर्शन शास्त्र का ईश्वरवादी पहलू, मनुष्यों की भौतिक एवं सीमित प्रकृति पर अधिक महत्व देता है। हमारी बोध शक्ति सीमित है, हमारी बुद्धि भी सीमित है, और जो कुछ भी हमारे मन और बुद्धि के द्वारा जनित होगा, वह भी सीमित ही होगा। इसलिए हम अपने मूल कारण को नहीं जान सकते क्योंकि वह हमारी सीमित इन्द्रियों की शक्ति के परे है।

जो कुछ भी, अपनी भौतिक व ससीम सूझ-बूझ के द्वारा हम जानने की कोशिश करेंगे, वह मनगढ़ंत होगा। इसलिए हमें अपने दिमाग में वास्तव सत्य के बारे में कल्पनाएँ नहीं करनी चाहिए। चूँकि हम बद्ध-जीव हैं, इसलिए हमारी सीमाएँ हैं। उसी प्रकार अपनी योग्यता के द्वारा ज्ञान अर्जन करने की हमारी शक्ति भी सीमित है। उस अनन्त भगवान् को जानना, हमारी भौतिक बुद्धि की सीमाओं के बाहर है।

पूर्ण सत्य सदा विद्यमान है और हम उस सत्य को कैसे जान सकते हैं, इसकी ज्ञान प्राप्त करना हमारा कर्त्तव्य है। हम अपनी चेष्टा से परम सत्य तक नहीं पहुँच सकते। तो उस सत्य को कैसे जानेंगे? भगवान् सब कारणों के कारण हैं। उनकी कांति एवं प्रकाश स्वयं प्रकाशित है। इसलिए हमें भगवान् की सत्यता को उनकी कृपा के माध्यम से ही जानने का प्रयास करना चाहिए।

जब किसी का अज्ञान रूपी अंधकार ज्ञान रूपी प्रकाश से नष्ट हो जाता है तब समस्त वस्तुएँ अपने वास्तव स्वरूप में प्रकाशित होती हैं। दिन में सूर्य उदित होकर सब कुछ प्रकाशमय कर देता है। यदि आप सूर्य को रात को देखना

चाहते हैं तो क्या यह सम्भव है? यदि आप सारे शहर की लाइटों को एक साथ जलाएँगे तब भी यह असम्भव है। सूर्य स्वयं-प्रकाशमय है। इसलिए सूर्य को रात को देखने की आपकी सभी चेष्टाएँ निष्फल होंगी क्योंकि आपकी निजी प्रकृति और सूर्य की प्रकृति में बहुत अंतर है। सूर्य को देखने के लिए आपको उसकी किरणों की प्रतीक्षा करनी होगी। आपकी सूर्य का दर्शन करने की योग्यता न तो अविष्करित लाईट के उपलब्ध होने से बढ़ेगी और न ही उसके अभाव में घटेगी। इस संसार में अविष्करित लाईट हमें सूर्य का दर्शन करने में कोई सहायता नहीं करेगी। सूर्य की निजी किरणें ही हमें यह शक्ति प्रदान कर सकती हैं। इसी प्रकार सर्वशक्तिमान भगवान् स्वयं-कांतिमय एवं स्वयं-प्रकाशमय हैं और केवल मात्र उनकी कृपा से ही हम उनको जान सकते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् अपनी मुख्य दो प्रकार की शक्तियों का वर्णन करते हैं—परा और अपरा। परा-शक्ति, अपरा-शक्ति से श्रेष्ठ है। 'परा' आध्यात्मिक है और 'अपरा' भौतिक। इस भौतिक जगत में अपरा शक्ति के 8 तत्त्व पाए जाते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। हमारा स्थूल शरीर पाँच स्थूल तत्त्वों से निर्मित है और सूक्ष्म शरीर मन, बुद्धि तथा अहंकार से, जोकि वास्तव अहं नहीं है। भगवान् के सन्दर्भ में जब हम अपने अहं की चिन्ता करेंगे तो हम जान पाएँगे की वे हमारे नित्य प्रभु हैं और हम उनके नित्य दास। पर जब हम भौतिक संसार पर अपना ध्यान केन्द्रित करके स्वयं को भोक्ता समझेंगे, तब वह हमारा अहंकार मिथ्या होगा।

जब हम इन्द्रियजन्य सुखों को भोगने में लिप्त हो जाते हैं तब यह भूल जाते हैं कि वह कुछ क्षणों का है, स्थायी नहीं एवं इसका परिणाम केवल दुःख है और कुछ नहीं। अनियमित इन्द्रिय-सुखवादी (लंपट व्यक्ति) अवश्य ही रोग-बीमारियों की चपेट में फंस जाता है। मिथ्या अहंकारवशतः किये गए सब कर्मों का अन्ततः परिणाम केवल दुःख ही होता है।
तो यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या हमें निरन्तर अपने आप को दुःख भोग कराते हुए सदैव इसी संसार में निवास करते रहना चाहिए?

शरीर का एक उद्गम स्रोत है, यह कुछ देर के लिए रहता है और अन्त में इसका नाश हो जाता है। चाहे आपका शरीर हृष्ट-पुष्ट हो या फिर कमज़ोर, यह नित्य नहीं है। यदि आप हृष्ट-पुष्ट हैं और आपमें विषयों को भोगने का सामर्थ्य भी है तो अपनी भोग प्रवृत्ति के कारण आप अपने शरीर में इतने आसक्त हो जाएँगे कि मृत्यु के समय भी आप इसे छोड़ना नहीं चाहेंगे। परन्तु फिर भी आपको जाना पड़ेगा। आपको मृत्युदूत (यमदूत) ज़बरदस्ती ले जाएँगे और अपने भौतिक सम्बन्धों के कारण आपको बहुत कष्ट उठाना पड़ेगा।

भगवान् की माया शक्ति में आबद्ध होने के कारण कुछ लोग यह समझ बैठे हैं कि यह संसार आनन्दमय, सुखदायक है और वे यहाँ वास्तविक सुख का अनुभव कर सकते हैं। भगवान् ही इस जगत के मूल कारण हैं। जब व्यक्ति, अपनी परस्पर स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर भगवान् से विमुख हो जाता है तब भगवान् की छाया शक्ति—माया उसे घेर लेती है। वह छाया उसे सच्चिदानन्दमय, नित्य चेतनमय और

आनन्ददायक प्रतीत होती है, पर वास्तव में उसका कोई अस्तित्व ही नहीं होता।

जो भी हम देखते हैं वह सब एक स्वप्न के समान है। नींद में स्वप्न देखते हुए हमें ऐसा लगता है कि हम सचमुच ही उस घटना को देख रहे हैं। परन्तु आँख खुलने पर हमें यह अहसास हो जाता है कि वह तो केवल एक स्वप्न था कोई सच्ची घटना नहीं। इसी प्रकार यह पूरा संसार एक सपना ही है। जब हम जागेंगे तब हम देख पाएँगे कि इसमें सबकुछ झूठ है या फिर माया है। माया का अर्थ है— 'मा'-'या', ''नहीं वह''। यह संसार और वे आठ तत्त्व जिनसे यह संसार निर्मित है, नित्य नहीं हैं। फिर भी इस संसार के सम्बन्ध में हमारा वास्तविक निजी अस्तित्व या हमारी आत्मा बिल्कुल अलग ही एक वस्तु है।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।

—(गीता 7/5)

''वस्तु सामग्री से भिन्न एक और शक्ति है—परा-शक्ति या उच्च आध्यात्मिक शक्ति। हर एक जीवात्मा आध्यात्मिक शक्ति से उत्पन्न होती है। इसे भगवान् श्रीकृष्ण की तटस्था शक्ति भी कहते हैं।''

गीता में भगवान् कहते हैं कि जीव मेरा ही अंश है, परन्तु किस प्रकार का अंश? स्वयं वस्तु का अंश नहीं, परन्तु उनकी तटस्था शक्ति का अंश। इसी प्रकार सूर्य की किरण का एक कण स्वयं सूर्य का कण नहीं होता।

इस प्रकार से ही हमें भगवान् की असंख्य शक्तियों को समझना होगा। हम इन शक्तियों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—अंतरंगा, तटस्था एवं बहिरंगा—परन्तु वास्तव में उनकी शक्तियाँ अनन्त हैं।

तटस्था शक्ति (जीव शक्ति) के द्वारा ही सब जीव प्रकट होते हैं। जब हम श्रीकृष्ण से विमुख हो जाते हैं, तब उनकी बहिरंगा शक्ति (माया शक्ति या अपरा शक्ति) हमें आबद्ध कर लेती है और हम इन जन्म, मरण, और त्रिगुणमय दुखों से पूर्ण संसार में फँस जाते हैं।

जब हम श्रीकृष्ण के शरणागत होंगे, वे स्वयं कृपा-मूर्ति या अंतरंगा शक्ति के रूप में हमारे पास प्रकट होंगे। अंतरंगा शक्ति (स्वरूप शक्ति) के विग्रह रूप हैं—शुद्ध-भक्त, अर्थात् सद्गुरु या पारमार्थिक पथ-प्रदर्शक। शुद्ध-भक्त की कृपा से हम भी उस नित्य आनन्द के अप्राकृत राज्य में प्रवेश कर सकते हैं।

तो हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए? इसके मूल सिद्धान्त का वर्णन पद्म पुराण में पाया जाता है—

स्मर्त्तव्य सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित्।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः।।

—(पद्म पुराण 72/100)

''हमें श्रीकृष्ण को सदैव स्मरण रखना है। उनको याद रखने के लिए जो कुछ भी आवश्यक है, हमें वह करना चाहिए। यही कारण है कि साधु-सन्तों ने उपासना के बहुत सारे अलग-अलग तरीके बताए हैं। ऐसा नहीं है कि हम केवल इन पूर्व बताए तरीकों को ही अपना सकते हैं। कसौटी यह है कि जो कोई भी तरीका हो, बस दो बातों का सदैव ध्यान

रखना है। एक, कि हम सदैव श्रीकृष्ण को याद रखें, और दूसरा, कि हम कभी श्रीकृष्ण को भूलें नहीं।''

इस पृथ्वी पर कोई भी व्यक्ति, चाहे वह आस्तिक हो या नास्तिक यह प्रमाणित नहीं कर सकता कि यह शरीर ही व्यक्ति है। हम इस शरीर को तभी तक व्यक्ति मानते हैं जब तक इसमें चेतनता रहती है। वास्तव में, वह मौजूदगी जो किसी को व्यक्ति बनाती है, जो उसकी वास्तविक पहचान है, उसे कहते हैं सत्-चित्त-आनन्द। संस्कृत भाषा में हम 'आत्मा' या 'जीवात्मा' शब्दों का प्रयोग करते हैं। आप इस शरीर में रहने वाले उस नित्य अवस्थित तत्त्व को ''आत्मा'' शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं।

जब शरीर से चेतना निकल जाती है, तब इस देह की कोई पहचान नहीं रहती। आत्मा-विहीन इस शरीर को आप रसायनों के द्वारा लम्बे समय तक सुरक्षित रख सकते हैं, परन्तु इसको देखकर किसी को भी प्रसन्नता नहीं होती। इसमें से जीवन जा चुका है। जितनी देर तक सच्चिदानन्दमय आत्मा इस शरीर में अवस्थित है, तभी तक इसे व्यक्ति समझा जाता है।

हर एक जीवित प्राणी की हृदय से यही इच्छा होती है, कि वह इस संसार में नित्य अवस्थित रहे। नित्य जीवन, जिसे संस्कृत में 'सत' कहते हैं सचेतन प्राणी की आवश्यकता है। हम सब के अन्दर ज्ञान अर्जन करने की इच्छा होती है। इसका तात्पर्य है कि हममें ज्ञान-तत्त्व या 'चित्त' की मौजूदगी है। क्योंकि यदि किसी में ज्ञान की मौजूदगी है तभी तो वह और जानने की इच्छा करेगा। यदि वह अज्ञान के अंधकार

में पड़ा है तो उसमें ज्ञान अर्जन करने की इच्छा कैसे आ सकती है। इसी प्रकार, जिसमें 'आनन्द' का अभाव है, वह आनन्द की इच्छा नहीं कर सकता। हम सब में आनन्द पाने की इच्छा है, ज्ञान अर्जन करने की इच्छा है, और नित्य अवस्थित रहने या कभी न मरने की इच्छा है। ये इच्छाएँ इस बात का संकेत हैं कि हमारा अस्तित्व आत्मा है जिसका स्वभाव सत्-चित्त-आनन्द है।

कोई भी मरना नहीं चाहता, परन्तु हम भगवान् की त्रिगुणमयी—सत्त्व, रज, तम माया-शक्ति द्वारा आबद्ध हैं। सब जीवित वस्तुओं का स्थूल देह रजोगुण के द्वारा निर्मित होता है, सत्त्वगुण के द्वारा उसका पालन-पोषण होता है और अन्ततः तमोगुण के द्वारा इसका विनाश होता है।

जब हम माया के द्वारा आबद्ध होते हैं, तब हमें यह अल्पकालिक देह प्राप्त होते हैं। हमारा जन्म होता है और कुछ देर जीवित रहने के बाद हम मर जाते हैं। हम यह अनित्य व नश्वर शरीर नहीं हैं बल्कि इसमें रहने वाली आत्मा हैं। श्रीमद्भगवद्गीता (2/20) में श्रीकृष्ण कहते हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।

''इस शरीर का जन्म होता है, यह कुछ देर के लिए रहता है, और फिर इसकी मृत्यु हो जाती है। परन्तु आत्मा की कोई जन्म-मृत्यु नहीं होती।''

'बचपन और युवा अवस्था में से निकलने के बाद और उसके बाद वृद्ध अवस्था से मृत्यु तक, आप यह महसूस करेंगे कि मृत्यु तो केवल एक प्रकार का बदलाव है। जब

शरीर समाप्त होता है, तब, आत्मा नहीं मरती। यह नित्य है। इसलिए हम नित्य हैं; कोई हमें मार नहीं सकता। हम सत्-चित्त-आनन्दमय हैं परन्तु हम असत्, अचित्त और निरानन्द वस्तुओं के पीछे दौड़ रहे हैं—जिनकी कोई सत्ता नहीं है और जो वास्तविक ज्ञान और आनन्द से विहीन हैं।''

इन भौतिक वस्तुओं की ओर ध्यान देकर हम वास्तविक शान्ति कैसे लाभ कर सकते हैं? इन नेत्रों का क्या मूल्य है? इसी क्षण मैं इनको एक तिनके के साथ फोड़ सकता हूँ और पलभर में ही यह सम्पूर्ण दृश्य जगत मेरी पहुँच से बहुत दूर हो जायगा। मैं अपने कानों के परदों में भी छिद्र कर सकता हूँ और ध्वनि जगत भी मेरी पहुँच के बाहर हो जायगा? बस इसी प्रकार की है इन भौतिक इन्द्रियों की प्रकृति—नश्वर।

अब आप यह विचार कीजिए कि क्या इन नश्वर इन्द्रियों के आधार पर प्राप्त अनुभव वास्तविक हो सकता है? परन्तु यदि हम अपने वास्तविक अहम, आत्मा, के लक्षण अर्थात् सत्-चित्त-आनन्दमय प्रकृति को पहचानें, तब हम अपनी आत्मा की मौजूदगी को अनुभव कर पाएँगे।

ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा
पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्।
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः
समिंधते विष्णोर्यत् परमं पदम्।।

—(ऋग्वेद 1/22/20)

''भगवान् के श्रीचरणकमल अप्राकृत हैं। उनको हम अपनी भौतिक इन्द्रियों, चाहे स्थूल या सूक्ष्म, के द्वारा नहीं जान सकते। वे हमारे मन और बुद्धि की पहुँच के परे हैं।

वे अप्राकृत हैं, अतीन्द्रिय हैं। हमारी इन्द्रिय शक्ति के बाहर हैं।''

संस्कृत शब्द ''इदं'' का अर्थ है ''यह''। जब हम अपनी भौतिक इन्द्रियों के द्वारा अनुभव करते हैं, तब हम ''यह'' देखते हैं। परन्तु भगवान् के श्रीचरणकमल अप्राकृत हैं—''वह''। सभी प्रकार की साधना का लक्ष्य एक है—भगवान् के श्रीचरणकमल की प्राप्ति। भगवान् के भक्त उनका कैसे दर्शन करते हैं? क्या वे अपनी शक्ति के द्वारा दर्शन करते हैं? ''दिव्य चक्षुर आततम''। वे स्वयं प्रकाशमय हैं, इसीलिए, जिन भक्तों पर उनकी कृपा होती है, उन्हें देख सकते हैं। हम श्रीकृष्ण की कृपा के बिना उनका दर्शन नहीं कर सकते।

सब जीव भगवान् श्रीकृष्ण की शक्ति के अंश (अणु) रूप में उनके साथ सम्बन्धित हैं। वे पूर्ण हैं। उनसे श्रेष्ठ या उनके बराबर कुछ भी नहीं है। उनकी स्वेच्छा के बिना, उन्हें कोई नहीं जान सकता।

कुछ लोग, अपनी बुद्धि के अनुसार, श्रीकृष्ण को प्राप्त करने का मार्ग इस प्रकार की उपमा देकर समझाते हैं। वे कहते हैं—रोम नामक एक बहुत विशाल शहर है। क्या रोम तक पहुँचने का एक ही मार्ग है? नहीं, वहाँ जाने के लिए सैंकड़ों-हज़ारों सड़कें हैं। भगवान्, असीम हैं। तो यह कहना कि उन तक पहुँचने का केवल एक ही मार्ग है, हठधर्म होगा। चूँकि वे असीम हैं, इसलिए उन तक पहुँचने के रास्ते भी अवश्य असीम होंगे।

परन्तु इस उपमा में कुछ त्रुटि है। रोम पाँचभौतिक पदार्थों से निर्मित है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश।

वह भौतिक वस्तुओं के मिश्रण का एक ढेर मात्र है। इसी प्रकार मनुष्य का यह स्थूल शरीर इन पाँचभौतिक तत्त्वों से ही निर्मित है और सूक्ष्म शरीर—मन, बुद्धि व अहंकार से। ये सभी भौतिक हैं। परन्तु उपर वर्णित, वास्तविक स्वरूप सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीकृष्ण की परा-शक्ति का परिणाम स्वरूप है। जब तक जीवात्मा इस जगत में विद्यमान रहती है, तब तक वह भौतिक तत्त्वों के ऊपर स्वामित्व जता सकती है, चूँकि वह उन तत्त्वों से श्रेष्ठ है। इसलिए एक व्यक्ति रोम तक सैंकड़ों रास्तों से पहुँच सकता है क्योंकि उसके शरीर में वह अध्यात्मिक चेतना विद्यमान है। बल्कि मनुष्य ही नहीं, कुत्ते या चींटियाँ भी आ सकती हैं, क्योंकि उनके शरीर में भी इसी प्रकार एक अध्यात्मिक चेतना विद्यमान है। किन्तु भगवान् भौतिक पदार्थों के मिश्रण का ढेर नहीं हैं जिन पर शासन किया जा सके। वे अप्राकृत हैं और हम उनपर शासन नहीं कर सकते। श्रीकृष्ण की कृपा के बिना हम उन तक नहीं पहुँच सकते।

श्रीमद्भागवत (1/2/11) में वर्णन है—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।

''तत् का अर्थ है 'वह', अप्राकृत, वास्तविक सत्य। इस पूर्ण, संगठित ज्ञान को विभिन्न शब्दों से सम्बोधित किया जाता है—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। ज्ञानी ब्रह्म या ब्रह्म की सर्व-व्यापकता के भीतर ही परम-तत्त्व का दर्शन करते हैं। योगी उन्हें हर जीवित प्राणी के भीतर अवस्थित परमात्मा के रूप में देखते हैं। और भक्त उन्हें भगवान् के रूप में देखते हैं।''

भगवान् हैं सर्व-धारणशील, सर्व-समाविष्ट तत्त्व। भगवान् का अर्थ है वे जो सब प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त हैं, यथा—अर्थ, सामर्थ्य, यश, सौन्दर्य, शक्ति व वैराग्य। यह छः मुख्य ऐश्वर्य हैं, किन्तु वास्तव में ये अनन्त हैं। आपको अन्य किसी धर्म में भगवान् शब्द के बराबर कोई शब्द, जो कि प्रभु की पूर्णता को दर्शाता हो, नहीं मिलेगा। भगवान् महान से भी महान, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और इनके मध्य में अवस्थित सबकुछ हैं।

भगवान् अनेक रूप धारण करते हैं। उन सब रूपों में से व्रज के अप्राकृत ग्वालबाल व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण का रूप सबसे मधुर है। हम श्रीकृष्ण का भजन करके सब प्रकार के आनन्द का रसास्वादन कर सकते हैं परन्तु उनकी इच्छा के बिना हम उनको नहीं देख सकते। हम तो एक देश के राष्ट्रपति तक को, बिना अनुमति के नहीं मिल सकते, तो फिर अपनी इच्छा से भगवान् का दर्शन करने के बारे में कैसे सोच सकते हैं? ऐसा सोचना गलत होगा कि हम अपने मन मुताबिक मार्ग पर चलकर उनका दर्शन कर लेंगे। यदि मैं किसी व्यक्ति को अपनी मर्ज़ी से मिल सकता हूँ तो इसका अर्थ है कि वह व्यक्ति मेरे अनुभव व इच्छा के दायरे के अन्तर्गत है और इस प्रकार मेरे से छोटा है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति मुझे अपनी मर्ज़ी से मिलता है तो इसका अर्थ है कि मैं उससे छोटा हूँ।

सर्वशक्तिमान भगवान् की इच्छा के बिना उन्हें कोई नहीं मिल सकता और उस इच्छा की पूर्ति का नाम ही भक्ति है। अगर आप किसी की सेवा करना चाहते हैं तो आपको क्या करना होगा? आपको उसे तृप्त करना होगा मतलब

कि आपको उसकी इच्छा के अनुसार काम करना होगा। इसी प्रकार अगर हम भगवान् को प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें उनकी इच्छा के अनुरूप ही कार्य करना होगा। भगवान् ऐसे किसी व्यक्ति के पास क्यों आएँगे जो उन्हें मिलने की इच्छा न रखता हो। बल्कि यदि भगवान् को मजबूर होकर आना पड़ता है तब तो वे अपनी भगवत्ता खो देते हैं। कर्मी व्यक्ति प्रत्येक जन्म में ही भौतिक सुखों की इच्छा करते हैं। वे श्रीकृष्ण को नहीं चाहते, तो फिर भगवान् उनके पास क्यों आएँ? ज्ञानी व्यक्ति मुक्ति चाहते हैं। वे भगवान् श्रीकृष्ण के प्रीति-विधान (तृप्ति) के लिए कोई चेष्टा नहीं करते, तो फिर भगवान् उनके पास क्यों आएँ? केवलमात्र अनन्य भक्ति के द्वारा ही हम श्रीकृष्ण को प्राप्त कर सकते हैं।

....

सब कुछ भगवान् की इच्छा से ही होता है। उनकी इच्छा के बिना कोई कुछ नहीं कर सकता। यदि कोई व्यक्ति कहे कि वह भगवान् की इच्छा से स्वतन्त्र होकर कुछ कर सकता है, तो ऐसा कहकर वह भगवान् की भगवत्ता को कम कर रहा है। भगवान् की मर्ज़ी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। और तो और भगवान् की इच्छा से जो भी होता है सबके नित्य मंगल के लिए होता है। वे सर्व-मंगलमय, सर्व-शक्तिमान और सर्वज्ञ हैं।

कई बार हम ऐसा सोचते हैं कि हमारे साथ जो हो रहा है वह ठीक नहीं है, परन्तु हमें वास्तव में ऐसा बोध नहीं होता कि अपने भाग्य के लिए हम कैसे जिम्मेदार हैं। हमें नहीं पता कि हमने पूर्व में क्या कर्म किये हैं और अब

किन कर्मों का फल हमें मिल रहा है। क्या कोई दावा कर सकता है कि उसे अपने पूर्व कर्मों की जानकारी है। हमें तो वर्तमान में दो दिन पहले की घटनाओं को स्मरण रखने में कठिनाई होती है तो फिर दस साल पहले की तो बात ही छोड़ दीजिए। क्या आप सुबह से रात तक किए अपने सब कार्यों को याद कर सकते हैं? हम सब कुछ भूल जाते हैं। ऐसी अवस्था है हमारी। न तो हमें अपने पूर्वकाल में किये कर्मों की जानकारी है और न ही आने वाले भविष्य की।

जब हम इन सब में सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाते, तब हम परेशान हो जाते हैं, यहाँ तक कि अपना संतुलन भी खो बैठते हैं। परन्तु आत्म-अनुभूति प्राप्त जीव विकट से विकट परिस्थितियों में भी सदैव सन्तुलित रहते हैं। इसीलिए वे हमेशा शान्त व धीर-स्थिर होते हैं। और दूसरी ओर, हम लोग उचित दृष्टि व ज्ञान के अभाव में भगवान् की इच्छा को नहीं पहचान पाते।

अब कोई पूछ सकता है, कि यदि भगवान् की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता, तो फिर ऐसा लगता है कि हमारे पास अपनी वास्तविक स्वतन्त्र इच्छा नहीं है। और फिर हमारे जीवन का उद्देश्य क्या है यदि हमारे पास अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति ही नहीं है? इसका उत्तर है कि जीव चेतना-युक्त हैं, जिसका भीतरी अर्थ है कि उनके पास सोचने, अनुभव करने और इच्छा-शक्ति का प्रयोग करने की क्षमता है। भले ही इस चेतन वस्तु के पास सोच-विचार करने की स्वतन्त्रता है, किन्तु यह तुलनात्मक (संबंधवाचक) स्वतन्त्रता मात्र है। बहुत-से ऐसे लोग हैं जो एक फिल्म-स्टार

या राष्ट्रपति बनना चाहते हैं किन्तु अपनी इच्छा पूरी नहीं कर पाते। एक व्यक्ति जो राष्ट्रपति बनना चाहता है शायद अपना लक्ष्य प्राप्त कर ले, लेकिन ज़्यादातर लोग ऐसा नहीं कर पाएँगे। इसीलिए हमारी स्वतन्त्रता तुलनात्मक है।

हमारी सब इच्छाएँ पूरी नहीं हो पाती। भगवान् प्रत्येक वस्तु का संचालन करते हैं, परन्तु वे किसी जीव की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करते। यदि वे चाहें तो दखल दे सकते हैं, चूँकि वे सर्व-शक्तिमान हैं। पर अगर वे ऐसा करते हैं तो व्यक्तिगत चेतना (स्वतन्त्रता) क्रियाहीन हो जायेगी; जड़ वस्तु बन जाएगी। व्यक्तिगत चेतना नष्ट हो जाएगी। इसलिए भगवान् स्वयं अवतरित होकर अपने से विमुख जीवों को समझाने का प्रयास करते हैं ताकि वे लोग उनकी (भगवान् की) शिक्षाओं को खुशी-खुशी स्वीकार कर लें। भगवान् उन्हें भजन करने के लिए मजबूर नहीं करना चाहते। वे ऐसा कर सकते हैं, लेकिन अगर वो ऐसा करते हैं तो जीव की व्यक्तिगत चेतनता (स्वतन्त्रता) नष्ट हो जाएगी। उसका क्या फायदा होगा? चेतनता एक विशेष पूँजी है, इसलिए जीवों की परस्पर स्वतन्त्रता को संरक्षित रखते हुए, भगवान् स्वयं इस जगत में अर्विभूत होते हैं या फिर अपने पार्षदों (निजजनों) को भेजते हैं, जीवों को यह समझाने के लिए कि उन्हें सहर्ष भगवान् के प्रति शरणागत हो जाना चाहिए।

एक जादूगर था। उसके मित्र ने बताया कि उसे अपने वैवाहिक जीवन में कुछ परेशानियाँ आ रही हैं। उसने कहा, ''मेरे पास वो सबकुछ है जिसकी मुझे आवश्यकता है, लेकिन मेरी पत्नी अनुकूल नहीं है। वो हमेशा मुझे दुःखी करने के

लिए कुछ न कुछ करती रहती है, इसीलिए मैं खुश नहीं हूँ। मैं उसे वश में कैसे करूँ? तुम तो एक जादूगर हो। क्या तुम मेरी सहायता नहीं कर सकते? तुम्हें तो ज़रूर कोई तन्त्र-मन्त्र पता होगा।'' इस पर उस जादूगर ने उसे एक जादू की छड़ी दी और कहा, ''अब से तुम जो भी अपनी पत्नी को कहोगे, वो मान लेगी।''

वह आदमी अपने घर वापिस गया और उस जादू की छड़ी का प्रयोग करते हुए अपनी पत्नी को कहता, ''इधर आओ!'', और उसकी पत्नी आ गई। फिर उसने कहा, ''उधर जाओ'' और वो चली गई। दोबारा उसने आदेश दिया, ''बैठ जाओ'' और उसकी पत्नी बैठ गई। परन्तु कुछ देर तक ऐसा करने के बाद, उसे अनुभव हुआ कि वह अभी भी खुश नहीं था। क्यों? क्योंकि उसकी पत्नी एक कुत्ते के समान बन गई थी! उसे एहसास हुआ कि आपस में एक प्रेममय रिश्ता होने के लिए, उसकी पत्नी की स्वतन्त्रता अर्थात् स्वतन्त्र रूप से विचार करने की शक्ति का होना ज़रूरी है। अगर वो केवल अपनी स्वतन्त्र इच्छा से सेवा करती है, तभी सुख की प्राप्ति हो सकती है। अगर चेतन शक्ति को नष्ट कर दिया जाय, तब सुख प्राप्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार भगवान् इतने अबोध नहीं हैं कि वे जीवों की परस्पर स्वतन्त्रता का दमन कर दें। वे इसका संरक्षण करते हैं और उनके (भगवान्) अभिन्न-प्रकाश, श्रीगुरुदेव भी ऐसा ही करते हैं। परन्तु वे (भगवान्) एवं श्रीगुरुदेव, जीवों को यह समझाते हैं कि जीव भगवान् के नित्य दास हैं और भगवान् की सेवा करने से वे सुखी हो जाएँगे। वे अपने आदर्श चरित्र और उदाहरण के

द्वारा जीवों को समझाकर व उत्साहित करके उनकी विचार-धारा को बदलने का प्रयत्न करते हैं।

भगवान् अपने विभिन्न-अंश (जीव) की परस्पर स्वतन्त्रता को नष्ट नहीं करना चाहते। फिर किसके साथ वे अपनी लीला का रसास्वादन करेंगे? सेवा के लिए, एक सेवक और एक सेव्य का होना अनिवार्य है। केवल तब ही अप्राकृत प्रेम संभव है। जहाँ केवल एक ही व्यक्ति है वहाँ इस प्रकार का प्रेम संभव नहीं है। जो जीव अब यहाँ इस भौतिक जगत में हैं, वे श्रीकृष्ण को भूल गए हैं। परन्तु जब उन्हें आत्मा के नित्य स्वभाव की जागृति का अनुभव होगा, तब वे अत्यन्त तत्परता एवं व्याकुलता के साथ भगवान् के लिए क्रन्दन करेंगे। उधर भगवान् भी उनके उस भाव का रसास्वादन एवं आनन्द लेंगे। फिर हम भगवान् को उस आनन्द से क्यों वंचित करें?

....

एक समय मेरे गुरुजी एक स्थान पर गए जहाँ बहुत सारे लोग एकत्रित थे। सभी धर्मों के लोग वहाँ आमन्त्रित थे। इसलिए ऐसा था कि वहाँ आधे लोग मुसलमान थे और आधे हिन्दु। श्रोताओं में से एक मुसलमान ने महाराज जी से प्रश्न किया। ‘‘स्वामी जी क्या आपने आत्मा और परमात्मा को देखा है? क्या कोई कह सकता है कि उसने उन्हें देखा है? मैं सोचता हूँ कि किसी ने भी आत्मा और परमात्मा को कभी देखा नहीं है और आप उनके विषय में बोलकर जगत को धोखा दे रहे हैं। सभा के आयोजक और श्रोतागण उस व्यक्ति से बहुत अप्रसन्न हुए, किन्तु श्रील गुरु महाराज जी ने

उसे सम्मानपूर्वक उत्तर दिया। उन्होंने कहा, ''आप निश्चित ही एक विद्वान व्यक्ति हैं। क्या मैं आपसे एक स्वाल पूछ सकता हूँ। आपके हाथ में जो किताब है उसका नाम क्या है?'' व्यक्ति ने किताब का नाम बता दिया। गुरु महाराज जी ने कहा कि मैं देख नहीं पा रहा हूँ। मुझे किताब का नाम नहीं दिख रहा। आप मुझे धोखा दे रहे हैं।'' दूसरे मुसलमानों ने वहाँ आकर किताब का कवर देखा और पहले व्यक्ति की बात की पुष्टि की। ''स्वामी जी, इस व्यक्ति ने आपको किताब का सही नाम बताया है।''

पुनः श्रील गुरु महाराज जी ने कहा, ''देखिए मेरे पास आँखें हैं और मेरी दृष्टि भी ठीक है। तब भी मैं नहीं देख पा रहा हूँ जो आप कह रहे हैं। आप सब मिलकर मुझे धोखा दे रहे हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि एक कौआ स्याही में पैर डुबोकर एक कागज़ पर चला होगा जिससे ये सब निशान बन गये हैं। कौओ के पैरों के निशान के अलावा मुझे और कुछ नहीं दीख रहा है।''

यह सुनकर मुसलमान भड़क गया, ''स्वामीजी, क्या आपको उर्दू नहीं आती?'' ''नहीं, मुझे नहीं आती।''

मुसलमान ने उत्तर दिया, ''तब आप इसे समझने की कैसे उम्मीद कर सकते हैं? आपको इस भाषा के अक्षरों का अध्ययन करना पड़ेगा। तब ही आप इसे पढ़ और समझ सकेंगे। आपको इसकी योग्यता अर्जन करनी पड़ेगी।

तब श्रील गुरु महाराज जी ने कहा, ''आपने अपने प्रश्न का स्वयं ही उत्तर दे दिया है। हमारे पास बहुत प्रकार की विद्या है। हम अन्य भाषाओं को आसानी से सीख सकते हैं,

किन्तु हमारे पास वो योग्यता नहीं है जिससे हम आत्मा और परमात्मा को जान सकें। हम उन्हें तब ही देख पाएँगे जब हम उपयुक्त योग्यता अर्जित कर लेंगे। जब तक हम ऐसा नहीं करेंगे, तब तक हम नहीं समझ पायेंगे। मुझे कौओ के पैरों के निशान दिख रहे हैं, किन्तु बाकी लोग उन्हीं पैरों के निशान में रूप और अर्थ देखते हैं क्योंकि उनके पास अपनी दृष्टि के पीछे उर्दू भाषा का ज्ञान है। यदि मुझे उर्दू का तनिक भी ज्ञान नहीं है, तो आप क्या कर रहे हैं, मैं उसे नहीं देख सकता। एकबार मुझे वह ज्ञान प्राप्त हो जायेगा तो मैं भी देख सकूँगा। इसी प्रकार आत्मा को देखने के लिए भी विशेष योग्यता कि आवश्यकता है। आपको ऐसे लोगों के पास जाकर समझने के लिए प्रार्थना करनी होगी जिन्हें इसका अनुभव हो चुका है।''

जब किसी को वह अविद्या का नाश करने वाला ज्ञान प्राप्त होता है, तब वह ज्ञान उसी प्रकार सबकुछ प्रकाशित कर देता है, जिस प्रकार सूर्य दिन में सब कुछ प्रकाशमान कर देता है। इस प्रकार का ज्ञान स्वयं-स्फुरित होता है। आप रात्रि में सूर्य को नहीं देख सकते क्योंकि वह स्वयं-प्रकाशमय है; उसे अन्य प्रकार की रोशनी के द्वारा नहीं देखा जा सकता। जब सूर्य उदय होता है और उसकी किरणें आपके नेत्रों को उजागर करती हैं, तब ही आप सूर्य को देख पाते हैं, अपने आप को देख पाते हैं, और इस जगत कि सभी वस्तुओं को यथार्थ देख पाते हैं।

उसी प्रकार जब स्वयं-प्रकाशमय, स्वयं-स्फुरित भगवान् एक पूर्ण शरणागत जीव के हृदय में अवतरित होंगे तब ही

वह जीव अपने निज स्वरूप को तथा संसार के अन्य वास्तव स्वरूपों एवं अन्य वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में देख पाएगा। समस्त अविद्या विदुरित हो जाएगी और सबकुछ ज्ञान से प्रकाशमय हो जायेगा। किन्तु ऐसा होने के लिए, हमें उनकी शरण लेनी होगी और सब प्रकार से गुरु की सहायता (कृपा) प्राप्त करनी होगी। जब हम भौतिक ज्ञान के लिए गुरु और शिक्षकों कि सहायता लेते हैं तो फिर पारमार्थिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए भेद क्यों होगा? हमें एक आत्म-अनुभूति-प्राप्त जीव के पास जाकर उनसे निर्देश ग्रहण करना होगा; तब भगवान् स्वयं को प्रकाशित करेंगे। हम अपनी सरलता अथवा प्रतिकूल भाव से उन्हें नहीं जान सकते। भगवान् एक अद्वि तीय सत्य हैं। वे अपने आप को केवल एक पूर्ण शरणागत भक्त के पास ही प्रकाशित करते हैं।

....

मन ही मुक्ति और मन ही बंधन का कारण है। इसे भगवान् कपिल ने अमल पुराण श्रीमद्भागवत के तीसरे अध्याय में वर्णन किया है। भगवान् कपिल, स्वयं भगवान् का अवतार थे। वे करदम मुनि और माता देवहुति के पुत्र के रूप में अवतरित हुए थे। एक दिन माता देवहुति ने अपने पुत्र से पूछा, ''एक बद्ध-जीव का माया के चंगुल अर्थात् जगत की सभी प्रकार की कामना-वासना से कैसे छुटकारा हो सकता है? हम माया के बंधन से खुद को कैसे मुक्त करा सकते हैं?'' इस पर कपिल भगवान् ने उत्तर दिया—

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्ताय चात्मनो मतम्।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये।।

—(श्रीमद्भागवत 3/25/15)

''यह मन निश्चित ही बंधन का कारण है, और यह मन मुक्ति का भी कारण है। कैसे? 'गुणेषु सक्तं बन्धाय'। जब व्यक्ति का मन भगवान् कि बहिरंगा शक्ति के तीन मूल गुणों (सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण) में आसक्त रहता है, तब वह बंधन में होता है। जब व्यक्ति का मन निर्गुण अर्थात् अप्राकृत परम पुरुष श्रीहरि में आसक्त होगा, तब उसका माया के प्रभाव से छुटकारा हो जायेगा और उसे मुक्ति मिल जाएगी।''

त्रिगुण क्या हैं? प्राणियों कि सृष्टि रजोगुण से होती है। हमारे शरीर की सृष्टि रजोगुण से हुई है, इसका सत्त्वगुण से पालन-पोषण होता है और तमोगुण से इसका नाश हो जाता है। तमोगुण से व्यक्ति की मृत्यु होती है। हमारा शरीर त्रिगुणमय है, क्योंकि इसका जन्म होता है, यह कुछ समय के लिए रहता है और फिर इसका विनाश हो जाता है। हमारा शरीर त्रिगुण का स्थूल स्वरूप है। इसलिए जो व्यक्ति हमेशा अपने शरीर, इसकी ज़रूरतें और इसके सौंदर्य के बारे में ही सोचता रहता है, बंधन में है। इस प्रकार के लोग केवल बाहरी स्वरूप को ही देखते हैं, आत्मा के बाहरी आवरण को, असली स्वरूप को कभी नहीं।

एक चुम्बक और लोहे का उदाहरण लीजिये। चुम्बक का क्या स्वभाव है? चुम्बक का स्वभाव है लोहे को अपनी ओर आकर्षित करना, जब भी वह उसके निकट आता है। और लोहे का स्वभाव है कि जब भी वह एक चुम्बक के नज़दीक आता है, तो वह उसकी ओर आकर्षित हो जाता है। किन्तु कई बार हम देखते हैं कि चुम्बक और लोहा दोनों ही उपस्थित हैं, किन्तु न तो वह चुम्बक उस लोहे को आकर्षित

करता हुआ प्रतीत होता है और न ही वह लोहा उस चुम्बक से आकर्षित होता है। क्यों?

भगवान् सब को आकर्षण कर रहे हैं। इसलिए उनका नाम है 'कृष्ण' अर्थात् वे जो सबको आकर्षित करते हैं और सबको आनन्द प्रदान करते हैं। श्रीकृष्ण सभी पहलुओं में श्रेष्ठ हैं—वे श्रेष्ठ से भी सर्वश्रेष्ठ हैं अर्थात् 'ब्रह्म', अणु से भी अणु हैं अर्थात् 'परमात्मा'। वे सर्व-आकर्षक तत्त्व हैं। तब भी कोई कह सकता है, ''स्वामी जी आप कहते हैं कि श्रीकृष्ण सबको आकर्षित करते हैं, किन्तु वे मुझे आकर्षण नहीं कर रहे।'' इसपर मैं कहूँगा, हाँ वे आपको भी आकर्षण कर रहे हैं, परन्तु आप उसे अनुभव नहीं कर पा रहे हैं? क्यों? चुम्बक और लोहा दोनों ही मौजूद हैं, किन्तु वे एक दूसरे को आकर्षित नहीं कर रहे क्योंकि लोहे को जंग ने ढका हुआ है। इसी प्रकार जंग ने आपकी आत्मा को अब ढक रखा है इसलिए आप उनके आकर्षण को अनुभव नहीं कर पा रहे हैं। आपको उस जंग अथवा धूलि को अपने हृदय से साफ करना होगा। यदि आप उसे हटा देंगे तो आपकी स्वाभाविक वृत्ति जाग्रत हो जाएगी।

भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति विमुखता के कारण ही आप उनकी माया शक्ति व विश्व की धूल से ढके हुए हो। अप्रत्यक्ष इच्छाओं की उस धूल को आपको हटाना है। यह कैसे किया जा सकता है? साधु-सन्तों की संगति में आपको रहना होगा। आपको एक पेशेवर वक्ता से नहीं, बल्कि एक ऐसे शुद्ध-भक्त से पूर्ण श्रद्धा सहित श्रवण करना होगा जिनका पूरा जीवन श्रीकृष्ण को समर्पित है। ऐसे बहुत से लोग हैं जो बहुत सारी

बातें तो करते हैं, पर उनका स्वयं पालन नहीं करते। वास्तव में स्वयं आचरण किए बिना कोई भी वक्ता किसी श्रोता पर प्रभाव नहीं डाल सकता अर्थात् जब तक कि उसका जीवन अपनी शिक्षाओं के अनुसार न हो।

इसलिए जो स्वयं आचरण कर रहे हैं अर्थात् जिनकी आत्मा जाग्रत है आपको उनके पास जाना होगा। ऐसा व्यक्ति कई सुप्त (सोई हुई) आत्माओं को जगा सकता है। यदि सभी सो जायेंगे तो उन्हें कौन जगाएगा? ऐसा कोई अवश्य ही होना चाहिए अर्थात् ऐसी एक जाग्रत आत्मा जो दूसरों को जगाए। शुद्ध-भक्त ही वह जागरूक (जाग्रत) आत्मा है। आपको बहुत ध्यान से उनकी बात सुननी है। उनके मुख से निकलने वाले शब्द अप्राकृत ध्वनि हैं। आपको अपने कानों के द्वारा उस ध्वनि को ग्रहण करना होगा, तब वह ध्वनि आपके नित्य स्वरूप के अप्राकृत स्वभाव को जाग्रत करा देगी। वह स्वभाव अर्थात् कृष्णप्रेम आपके भीतर उपस्थित है, किन्तु माया द्वारा ढका हुआ है इसलिए उसे जगाना होगा।

क्या कोई बीमार व्यक्ति स्वयं की चिकित्सा कर सकता है? जब हम बीमार होते हैं, तब हम किसी विशेषज्ञ से सलाह लेते हैं, वह विशेषज्ञ आँख, कान या हृदय का सुविज्ञ जानकार होता है। हमें डाक्टर के पास जाना पड़ता है। डाक्टर कह सकता है कि "तुम मेरे पास क्यों आए हो?" और हम उत्तर देंगे, "असल में, मुझे दवाई के बारे में कोई जानकारी नहीं है। आप ही मुझे बता सकते हैं कि मेरी बीमारी का कारण क्या है। कृपया मेरी जाँच कीजिये और मुझे बताइए कि मैं किस कारण से बीमार हो गया हूँ। तब दवा एवं पथ्य (समुचित

खान-पान) के बारे में भी बताइये ताकि मैं स्वस्थ हो सकूँ।''

यदि डाक्टर का रोग-निदान (diagnosis) सही हो और हम उसके निर्देश-अनुसार दवा व पथ्य लें, तो हमारी बीमारी ठीक हो जाएगी। बीमार व्यक्ति होने के कारण मैं स्वयं अपना इलाज नहीं कर सकता। उसी प्रकार ''इस संसार में हममें से प्रत्येक व्यक्ति बीमार है, तीन प्रकार के दुःखों से ग्रस्त है—अपने शरीर व मन से प्राप्त होने वाले दुःख, संसार में दूसरे जीवों से प्राप्त होने वाले दुःख तथा प्राकृतिक आपदाओं जैसे भुकम्प आदि से मिलने वाले दुःख। हम जन्म और मृत्यु के चक्र में घूम रहे हैं। हम बहुत से शिशुओं को जन्म लेते देखते हैं—आपका भी जन्म हुआ था। एक समय आप भी अन्यों की तरह अपनी माँ के गर्भ में थे। और इसी प्रकार अन्य लोगों की भाँति आपकी भी मृत्यु होगी। आपने देखा होगा कि मृत्यु का समय निकट आते ही गंभीर परेशानियों से ग्रसित होकर लोग कई प्रकार की पीड़ा झेलते हैं।

जब तक हम इस संसार में रहते हैं, तीन प्रकार के ताप बने रहते हैं। कोई भी सुख स्थायी नहीं है। सुख और दुःख का चक्र हमेशा घूमता रहता है। कभी-कभी आपको भौतिक सुख मिलेंगे, लेकिन बाद में पुनः कष्ट ही होगा। सुख और दुःख नियमित रूप से एक-दूसरे का अनुसरण करते रहते हैं। जो लोग भगवान् की माया द्वारा दिए गए त्रिताप से छुटकारा पाने की इच्छा रखते हैं, वे अपने (दुःखी होने के) कारणों की जाँच शुरू कर देते हैं तथा सच्चे गुरु की तलाश करते हैं।

....

सम्बन्ध

पूर्ण रूप से श्रीकृष्ण की शरण में जाने को 'शरणागति' कहते हैं। महाभारत में वर्णन है कि जब राज सभा में सभी राजाजों और अन्य महानुभावों जैसे द्रोण एवं भीष्म के सामने दुःशासन द्रौपदी का वस्त्र-हरण करना चाहता था, तब द्रौपदी ने अपनी रक्षा के लिए श्रीकृष्ण का नाम लेकर उन्हें पुकारा था। श्रीकृष्ण ने उसे (द्रौपदी को) बचाया था, पर तुरन्त नहीं। क्योंकि वे उसे बचाने थोड़ी देर से पहुँचे थे, तो द्रौपदी ने इस बात की शिकायत की। उसने कहा, ''मेरी लाज बचाने के लिए आपका बहुत-बहुत धन्यवाद, पर आप निश्चय ही थोड़ा पहले भी आ सकते थे। आपने इतनी देर तक प्रतीक्षा क्यों की? आपके इस विलम्ब का कारण क्या है?

श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया, ''तुमने मेरा नाम पुकारा था, मैं मानता हूँ, पर वे शब्द ही काफी नहीं थे। तुमने मेरी शरण ग्रहण नहीं की थी। सबसे पहले तुम भीम और अर्जुन की शरण में गई, यह सोचकर कि वे आएँगे और दुःशासन का वध करके तुम्हें बचा लेंगे। मैं क्यों तुम्हारे पास आता जब तुम यह सोच रही थी कि भीम और अर्जुन तुम्हारी रक्षा कर सकते हैं? तुमने मेरा नाम तो पुकारा था पर मेरी शरण ग्रहण नहीं की थी। तुम भीम और अर्जुन की शरण में गई।''

हम भगवान् को धोखा नहीं दे सकते। यह सम्भव नहीं है। वे हमारे अन्दर ही बैठे हैं और सब कुछ देख रहे हैं।

श्रीकृष्ण—''क्या यह सच नहीं कि तुम भीम और अर्जुन की शरण में गई थी?''

द्रौपदी—''हाँ''।

श्रीकृष्ण—''तब मुझे क्यों आना चाहिए था?''

द्रौपदी—''ठीक है, पर इसके बाद तो आपको आना चाहिए था?''

श्रीकृष्ण—''इसके बाद तुम कौरवों व पाण्डवों के गुरु द्रोण की शरण में गई। यदि द्रोण ने हस्तक्षेप किया होता तो किसी की भी उन्हें रोकने की हिम्मत नहीं थी। इसलिए जब द्रोण आकर तुम्हें बचा सकते थे तो भला मेरे आने की क्या ज़रूरत थी? क्या मैं ठीक नहीं हूँ?''

द्रौपदी—''हाँ, आप ठीक हैं।''

श्रीकृष्ण—इसके पश्चात तुम प्रबल योद्धा एवं दरबार के सबसे सम्मानित सदस्य पितामह भीष्म की शरण में गई। यदि उन्होंने हस्तक्षेप किया होता, तो कोई कुछ नहीं कर सकता था.... तुम उनकी शरण में गई। जब भीष्म तुम्हारी रक्षा कर सकते थे तो भला मैं क्यों आता? तुमने मेरी शरण नहीं ग्रहण की। तुम 'कृष्ण, कृष्ण' पुकार तो रही थी, पर वास्तव में मेरी शरण नहीं ग्रहण की थी। बल्कि तुम उनकी शरण में गई जो तुम्हें सामने दिखाई पड़ रहे थे, तब मैं क्यों आता? मैंने सोचा, ''उन्हें तुम्हारी रक्षा करने दो।''

इसके बाद तुम धृतराष्ट्र की शरण में गई और तत्पश्चात् अन्य राजाओं की शरण में। इन सभी प्रयासों के बाद तुमने स्वयं अपने वस्त्र को बलपूर्वक पकड़कर रखा और अपने आप को बचाने का प्रयास किया; एक हाथ ऊपर करके और दूसरे हाथ से अपने वस्त्र को पकड़कर तुमने अपने आप को बचाने का प्रयास किया। पर जहाँ शरणागति केवल आंशिक हो, मैं वहाँ प्रकट नहीं होता। ऐसी परिस्थितियों में अवतरित नहीं होता। जब तुमने अपने दोनों हाथ उठाकर मुझे पुकारा और पूर्ण रूप से मेरी शरण ग्रहण की, मैं उसी क्षण आ गया।''

जब तक हम पूर्ण शरणागत नहीं होंगे, हमें अपने कष्टों से किसी प्रकार की राहत नहीं मिल सकती। जब तक हम निष्कपट भाव से और सम्पूर्ण रूप में भगवान् श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण नहीं करते तब तक हमें इस संसार के कष्टों को भोगना पड़ेगा। हम धन कमाने और अपने सांसारिक रिश्तों को कायम रखने की कोशिश करते हैं, कि शायद उनसे हमें सुख प्राप्त हो जाय। तब भी हम अनित्य वस्तुओं के साथ आसक्ति का परिणाम देख सकते हैं, जोकि भयंकर दुःखों के रूप में प्रकट होता है। इसके बावजूद अपनी अज्ञानता के कारण व स्वयं की भ्रान्त धारणा (स्वरूप भ्रान्ति) की वजह से हम क्षणिक सुखों को पाने का प्रयास करते रहते हैं। हमने अपना धन खो दिया है, अपने प्रियजनों को खो दिया है, किन्तु हम उन्हें पुनः प्राप्त करने का प्रयास करते रहते हैं। यदि कोई मनुष्य नहीं मिलता तो हम एक कुत्ता, बिल्ली, तोता या अन्य कुछ भी पाल लेते हैं और उनमें आसक्त हो जाते हैं। पुनः-पुनः हम नाशवान वस्तुओं को पाने का प्रयास करते हैं क्योंकि हमारे दुःखों का मूल कारण नष्ट नहीं हुआ है। इसका मूल कारण स्वयं के प्रति हमारी भ्रान्त-धारणा तथा यह अज्ञानमय विचार है कि भौतिक सुविधाओं की प्राप्ति करके हम सच में सुखी हो जायेंगे। जब तक हम भगवान् की शरण में नहीं जाते, तब तक हम जीवन के चरम लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर सकते। कठोपनिषद् (2/23) में वर्णित है :

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।।

''प्रवचन के द्वारा अथवा ज्ञान से या बहुत बुद्धिमत्ता के द्वारा भगवान् को प्राप्त और अनुभव नहीं किया जा सकता।

केवल एक पूर्ण शरणागत जीव को ही भगवान् अपना नित्य स्वरूप प्रकाशित करते हैं।''

और श्रीमद्भगवद्गीता (18/65-66) के अंत में सभी बद्ध-जीवों के नित्य मंगल के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना चरम उपदेश प्रदान किया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।

''अपने चित्त को मुझे समर्पण करो। यदि तुम्हें अपना चित्त मुझमें नियुक्त करने में कठिनाई होती है तो मेरी सेवा करो। अपनी इन्द्रियों को मेरी सेवा में लगाओ। यदि यह भी सम्भव नहीं है तो मेरी पूजा करो। इसके बाद यदि यह भी सम्भव नहीं है तो मेरे पूर्ण शरणागत हो जाओ। मैं तुमसे यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम मुझे अवश्य प्राप्त करोगे।''

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

''धर्म (वेदों में वर्णित वर्ण, आश्रम आदि समस्त शारीरिक और मानसिक धार्मिक कर्त्तव्य) के बारे में मेरे समस्त पूर्ववर्त्ती निर्देशों का परित्याग करके एकमात्र मेरी शरण ग्रहण करो।''

श्रीमद्भगवद्गीता की समाप्ति शरणागति से होती है और वहीं से श्रीमद्भागवत प्रारम्भ होती है। बिना शरणागति के हम पारमार्थिक राज्य में प्रवेश नहीं कर सकते। अतः पहले हमें श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करनी होगी। जब कोई व्यक्ति श्रीकृष्ण का हो जाता है तथा केवल श्रीकृष्ण के प्रीति-विधान के लिए ही कार्य करता है, तब उसे 'भक्ति' कहते हैं। उनके नाम, रूप, गुण एवं लीला के बारे में श्रवण करना

पूर्णतः अप्राकृत है। किन्तु सर्वप्रथम हमें श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करनी होगी। हमें यह जानना पड़ेगा कि "मैं श्रीकृष्ण का हूँ।" यह ज्ञान हमें एक आत्म-अनुभूति-प्राप्त जीव अर्थात् शुद्ध-भक्त या सद्-गुरु प्रदान करेंगे। इसके लिए हमें एक ऐसे आत्म-अनुभूति-प्राप्त जीव के पास जाना होगा जो आत्मा के नित्य स्वरूप में प्रतिष्ठित हैं। उन्हें पता है कि वे श्रीकृष्ण के हैं, इसलिए सदा श्रीकृष्ण की सेवा में ही रत रहते हैं। यदि हम ऐसे आत्म-अनुभूति-प्राप्त जीव के पास जाकर स्वयं को समर्पित करें (प्रणिपात), उनसे विनम्रतापूर्वक प्रश्न करें (परिप्रश्न) एवं उनकी सेवा करें तब वे हमारे नित्य शाश्वत स्वरूप को जाग्रत कर देंगे, इसीलिए 'शरणागति' आवश्यक है। तथा स्वयं को एक शरणागत-भक्त के प्रति समर्पित करके हम वास्तविक शरणागति प्राप्त कर सकते हैं। शरणागति छः प्रकार की होती है, इनका वर्णन निम्नलिखित है—

आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।
आत्म-निक्षेप-कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।।

"जो कुछ श्रीकृष्ण की सेवा के अनुकूल है, हमें उसे स्वीकार करना चाहिए तथा जो प्रतिकूल है, उसका परित्याग कर देना चाहिए। वे ही एकमात्र रक्षक हैं तथा अन्य कोई भी हमारी रक्षा नहीं कर सकता। केवल वे ही हमारा पालन-पोषण करने वाले हैं। हमें एकमात्र उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिए। हमें दीन-हीन होकर अपने जड़-अभिमान का परित्याग करना चाहिए। ये शरणागति के छः विभाग हैं।

श्रीश्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर जी शरणागति के विषय में अपने गीत को इन शब्दों के साथ समाप्त करते हैं, ''रूप सनातन पदे दन्ते तृण करि'। भक्तिविनोद पड़े दुँहु पद धरि'।।'' ''अपने दाँतों के बीच तिनका रखकर मैं श्रीश्री रूप गोस्वामी जी एवं श्रीश्री सनातन गोस्वामी जी के चरणों में दण्डायमान होता हूँ।'' मूल बात यह है कि हमें एक शुद्ध-भक्त, एक आत्म-अनुभूति-प्राप्त जीव के पास जाना है। वे हमें शरणागति की शिक्षा प्रदान करेंगे। यदि हम स्वयं को उनके प्रति समर्पित नहीं करेंगे, तो समर्पण की प्रक्रिया हमारे अन्दर कभी प्रकाशित नहीं होगी।

तब हमें श्रीकृष्ण से क्या प्रार्थना करनी चाहिए? हमें श्रीकृष्ण से उनके श्रीचरणकमल एवं उनके भक्तों की सेवा की प्रार्थना करनी चाहिए। यही सर्वोच्च सम्भावना है। ''कृपया मुझे आशीर्वाद कीजिए ताकि मैं आपके शुद्ध-भक्तों का संग प्राप्त कर सकूँ। यदि मुझे आपके शुद्ध-भक्त का संग प्राप्त होगा, तो मुझे आपकी प्राप्ति हो जायगी। कृपया मुझे ऐसा आशीर्वाद कीजिए। जब तक मुझे एक शुद्ध-भक्त के श्रीचरण कमल की रज नहीं मिलती, मुझे कभी कृष्णप्रेम की प्राप्ति नहीं होगी।'' यही हमारी प्रार्थना होनी चाहिए।

अभिधेय

हमें भगवान् श्रीकृष्ण को प्राप्त करने का प्रयास क्यों करना चाहिए? क्योंकि यदि हम पूर्ण सत्य को प्राप्त कर लेंगे तो हम सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं। जिन्हें प्राप्त करके हमें सब कुछ प्राप्त हो जाता है; जिन्हें जानकर हम सबकुछ जान सकते हैं, वे श्रीकृष्ण हैं। फिर हमें किसी वस्तु की कोई कमी नहीं होगी। हमारी सभी इच्छाएँ पूरी हो जाएँगी और हमारी सभी समस्याओं का समाधान हो जायगा। तो हम श्रीकृष्ण को कैसे प्राप्त कर सकते हैं? इसे भक्ति का अभिधेय अर्थात् भक्ति के अभ्यास से जाना जाता है।

श्रीकृष्ण के असंख्य नामों में से एक नाम है—हृषीकेश। इसका अर्थ है कि वे समस्त इन्द्रियों एवं उनके विषयों के भोक्ता हैं। अब यदि हम अपनी इन्द्रियों को श्रीकृष्ण की अप्राकृत सेवा में नहीं लगाएँगे तो उन इन्द्रियों के माध्यम से अपवित्र वस्तुएँ हमारे दिलों-दिमाग में प्रवेश कर जाएँगी। इसलिए हमें उन्हें भौतिक विषयों में लिप्त होने से रोकना है ताकि सांसारिक विचार हमारे मन में प्रवेश न करें। यह केवल तब ही सम्भव है जब हम एक शुद्ध-भक्त के आनुगत्य में अपनी इन्द्रियों को भगवान् के प्रीति-विधान के लिए व्यवहार करेंगे। ऐसा होने पर जब श्रीकृष्ण संतुष्ट होंगे तब

वे हमें अपना दर्शन करने का सुअवसर प्रदान कर सकते हैं। इसे भक्ति कहते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु जी द्वारा प्रचारित एवं वेदों में प्रमाणित यह पारमार्थिक अभ्यास की विधि ही अभिधेय है। दूसरे व्यक्ति से प्रेम करके ही हम उनके प्रति अपने प्रेम को बढ़ा सकते हैं। इसी प्रकार यदि हम श्रीकृष्ण के प्रति अपने प्रेम को बढ़ाना चाहते हैं तो हमें उनसे प्रेम करने का अभ्यास करना होगा।

जो ऐसा कहते हैं कि परम सत्य का कोई रूप और शक्ति नहीं है, वे पूरे विश्व को भ्रमित कर रहे हैं। उनका कोई भौतिक रूप भले न हो, पर उनका अप्राकृत रूप अवश्य है। यदि कारण का कोई रूप न हो तो उसके परिणाम का भी कोई रूप नहीं हो सकता। भगवान् के अनन्त रूप हैं और वे इसमें पहल भी कर सकते हैं। उनके बिना हम कभी भी सुख नहीं प्राप्त कर सकते पर यदि हम केवल उनकी शरण ग्रहण कर लें तो हमारी सारी समस्याओं का समाधान एक ही पल में हो जायगा। भक्ति की क्या परिभाषा है? नारद पंचरात्र धर्मग्रन्थ में यह परिभाषा दी गई है—

सर्वोपाधि विर्निमुक्तम तत-परतवेन निर्मलम।
ऋषिकेन-ऋषिकेश सेवनम भक्तिर उच्चयते।।

यहाँ उपाधि शब्द का आशय वे पहचान हैं जिन्हें व्यक्ति ने अपने पूर्व कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त किया है। उदाहरण के लिए यदि किसी के पास विश्वविद्यालय की डिग्री है तो यह उसके अपने पूर्व कार्यकलापों का प्रतिफल है। कोई ऐसा सोच सकता है कि वह वकील या डॉक्टर बन गया है पर यह तो उसकी बाहरी पहचान है। स्वयं का वास्तव आंकलन कुछ

और है। अपने पूर्व कर्मों के कारण हम अलग-अलग जातियों और देशों में पैदा हुए हैं पर हमारी जाति व राष्ट्रीयता मात्र उपाधियाँ हैं। यदि हम इस अभिमान के बल पर आगे और क्रियाओं में लिप्त होते हैं तो वह कर्म होगा तथा उन भौतिक गतिविधियों की वजह से हमें प्रतिकूल प्रतिक्रिया प्राप्त होगी, भक्ति नहीं।

'कर्म' क्या है और 'भक्ति' क्या है? इनमें परस्पर भेद करना बहुत कठिन है। साधारण शब्दों में कहें तो जब कभी भी हम भौतिक अहंकार के वशीभूत होकर कोई कार्य करते हैं तो उसका परिणाम भी भौतिक अहंकार को ही प्राप्त होता है। जब हम गुण-दोष के आधार पर अपने कार्यों का आंकलन स्वयं के लिए करते हैं तब उसे 'कर्म' कहा जाता है, वह भक्ति नहीं है। स्वयं को कर्मफल का भेक्ता न मानकर, हमें अपने समस्त कर्मों का फल भगवान् को समर्पित करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति दिन-रात काम करता हो तो देखने वाला उससे प्रभावित होकर कह सकता है कि यह व्यक्ति बहुत अच्छा सेवक है। परन्तु यदि वह व्यक्ति उस कार्य को अपने अहंकार की पुष्टि के लिए कर रहा है तब वह भक्ति नहीं है। उसके लिए कहा जाता है ''सर्वोपाधि विर्निमुक्तम''। हमें सभी प्रकार की भौतिक उपाधियों के दायरे से मुक्त होना चाहिए। 'विर्निमुक्तम' का अर्थ है कि उसमें भौतिक अहं का लेश मात्र भी स्थान न हो। यदि उसमें भौतिक अहं का ज़रा सा भी संसर्ग है तो भक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता; वह कर्म हो जायगा।

''मैं भारतवर्ष से हूँ और मैं अमुक जाति का हूँ''—ये

सब भौतिक अहंकार के उदाहरण हैं। इस विश्व में कहीं भी अच्छाई नहीं है। सब कुछ अमांगलिक और अपवित्र है। जब हम सोचते हैं कि हम इस विश्व के हैं तब हम अपवित्र हो जाते हैं। अपवित्र अहंकार के वशीभूत होकर कार्य करने से हम अपवित्र हो जाते हैं। अतः इस अहंकार का पूर्णतयः परित्याग करके हमें इस संसार के साथ कोई सम्पर्क नहीं रखना चाहिए। इस स्थिति को प्राप्त करना बहुत कठिन है।

फिर भी केवल अभिमान से मुक्त होना ही काफी नहीं है। ज्ञानी भी इस अहंकार का परित्याग करना चाहते हैं। वे मुक्ति चाहते हैं; वे अपने आप को ब्रह्म में लीन करना चाहते हैं। किन्तु केवल इस सांसारिक भौतिक अभिमान से अपने आप को विमुक्त करके हम भक्ति नहीं कर सकते? ''तत-परतवेन निर्मलम'' हमें अपने आप को उन्हें अर्पण कर देना चाहिए। हमें वास्तव में हृदय से यह अनुभव करना चाहिए कि हम श्रीकृष्ण तथा श्रीगुरुदेव के हैं, केवल मुख से उनका नाम लेना ही काफी नहीं है। तब हम निर्मल हो जायेंगे। भक्ति-रसामृत-सिन्धु (1/1/11) में वर्णित और एक परिभाषा से इसकी पुष्टि होती है—

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्रिुत्तमा।।

यह उत्तम-भक्ति है। सब प्रकार की भक्ति-विमुख इच्छाओं को हमें छोड़ देना चाहिए। हृदय से सब प्रकार के पापों को निकाल देना चाहिए। हमें ज्ञान (मुक्ति प्राप्त करने के लिए ज्ञान) और कर्म (सकाम कर्म) में फँसना नहीं है। शुद्ध-भक्ति की प्राप्ति में ये सहायक नहीं होते। तथा हमें एक शुद्ध-भक्त

के शरणागत हो जाना चाहिए। **आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं**— हमें केवल श्रीकृष्ण की संतुष्टि के लिए कार्य करना चाहिए। यह इस श्लोक का साधारण अर्थ है, पर इसका वास्तविक अर्थ तो हमें श्रीकृष्ण की पूर्ण-शक्ति श्रीमति राधारानी जी की ओर लेकर जाना है। वे श्रीकृष्ण की सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं। हमें उनकी तथा उनसे प्रकाशित 'सखियों' एवं 'मंजरियों' की शरण में जाना चाहिए। जब हम अपने आप को उनके समान पूर्णतयः श्रीकृष्ण को समर्पित कर देंगे, तब हम जो भी क्रिया करेंगे, वह भक्ति होगी।

....

श्रीमद्भागवत में भक्ति-साधन के विविध अंगों का वर्णन किया गया है। सामान्य रूप से दो प्रकार के साधन होते हैं, जिनके अनुसार हम भक्ति का अभ्यास कर सकते हैं— 'वैधि-भक्ति' और 'रागानुगा-भक्ति'। विधि का अर्थ है नियम या कानून। जिन्हें श्रीकृष्ण से स्वाभाविक प्रेम नहीं है उनके लिए वैधि-भक्ति ही उपयुक्त है। ऐसे बहुत-से बद्ध जीव हैं जिन्हें श्रीकृष्ण की आराधना में कोई रूचि नहीं है, क्योंकि उन्हें भगवान् के साथ कोई सम्बन्ध अनुभव नहीं हुआ है। जब किसी के साथ हमारा सम्बन्ध होता है तो स्वाभाविक रूप में ही उस व्यक्ति की सेवा या उससे प्रीति करने की इच्छा होती है। माता-पिता को अपने बच्चों से प्यार करने की शिक्षा नहीं देनी पड़ती। उनमें वह प्रवृत्ति उनके स्वाभाविक रिश्ते की वजह से होती ही है। चूँकि हममें से बहुत कम लोगों को भगवान् से ऐसे सम्बन्ध की अनुभूति होती है, इसलिए विधि की व्यवस्था है। हमें बताया जाता है कि 'वे भगवान्

हैं, वे ही सृष्टि एवं पालन-पोषण करने वाले हैं। उनकी आराधना करना हमारा कर्त्तव्य है।'' हममें से अधिकांश की भक्ति के प्रति कोई स्वाभाविक प्रीति नहीं होती, पर हम भक्ति का अभ्यास इसलिए करते हैं क्योंकि ऐसा शास्त्रों का आदेश है। अतः साधारण साधकों के लिए 'वैधि-भक्ति' की व्यवस्था है।

रागानुगा का अर्थ है स्वाभाविक आकर्षण। जिन भक्तों में श्रीकृष्ण के लिए आकर्षण अंतर्जात (नैसर्गिक) होता है, उन्हें रागात्मिक-भक्त कहते हैं। वे भगवान् श्रीकृष्ण के नित्य पार्षद होते हैं। कोई भी बद्ध-जीव कभी रागात्मिक नहीं बन सकता। पर बद्ध-जीव के रूप में हमारा रागानुगा-भक्ति के साथ सम्बन्ध हो सकता है। रागानुगा-भक्तों का भी श्रीकृष्ण के लिए स्वाभाविक प्रेम होता है, पर इसकी प्राप्ति उन्हें साधन के द्वारा होती है। यदि हम उनका संग कर सकें तो शायद हमारा भी श्रीकृष्ण के लिए तीव्र एवं स्वाभाविक प्रेम स्वतः उत्पन्न हो जायगा। परन्तु ऐसा होना बहुत दुर्लभ है।

हम मन्दिर में श्रीराधाकृष्ण के विग्रहों की सेवा अनेक नियम व विधियों के अनुसार करते हैं, शास्त्रों के आदेश अनुसार हमारी प्रीति सीमित है। वास्तव में केवल राधा और कृष्ण ही स्वाभाविक प्रेम के सम्भावित लक्ष्य हैं। श्रीकृष्ण के अप्राकृत राज्य वृन्दावन के निवासी, 'व्रजवासी', सोचते हैं कि श्रीकृष्ण उनके अधीन हैं। स्वाभाविक भक्ति की पराकाष्ठा श्रीकृष्ण की नित्य-संगिनी श्रीमति राधारानी एवं उनकी अपनी सखियों अर्थात् गोपियों में देखी जाती है। यदि हम राधारानी के अनुगत सखियों एवं मंजरियों से मंत्र ग्रहण करते

हैं तो वह मंत्र हमें उन्हीं (सखी और मंजरी) के सेवा-रस में श्रीश्रीराधाकृष्ण तक ले जायगा। चूँकि इस समय हमने केवल साधन प्रारम्भ किया है इसलिए ऐसी अनुभूति नहीं होगी। अतः हम वैधि-भक्ति पालन करने योग्य हैं, किन्तु अन्ततः यदि हम साधन करते रहेंगे, तो अंतरंग भाव से श्रीराधाकृष्ण की सेवा करने की इच्छा हृदय-गुहा से स्वतः जाग्रत होगी। रागानुग-भक्त भी वैधि-भक्ति के अंगों का पालन करते हैं, पर तीव्र प्रीति के साथ। अगर हम निष्कपट होकर अभ्यास करें, तो अतंतः सेवा की ऐसी तीव्र इच्छा स्वतः ही हृदय से उत्पन्न होगी। हमें धैर्य धारण करना होगा और वैधि-भक्ति के नियमों का पालन करते हुए अभ्यास जारी रखना है।

वैधि-भक्ति के मूल 64 अंग हैं। इनमें से 9 भक्ति-अंगों को श्रीमद्भागवत (7/5/23-24) में अति आवश्यक बताया गया है—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म-निवेदनम्।।

हमें श्रीकृष्ण के विषय में श्रवण करना चाहिए। और श्रवण के बाद श्रीकृष्ण का कीर्तन करना चाहिए। हमें उनके अप्राकृत नाम, रूप, गुण व लीला के सम्बन्ध में जानना चाहिए। इनके बारे में जानने के बाद हम इनका गुणगान कर सकते हैं। पर सबसे पहले हमें उनके पास जाना चाहिए जिन्हें यह ज्ञान परम्परा से प्राप्त हुआ है। उनसे श्रवण करने पर, वे अप्राकृत शब्द हमारे कानों के माध्यम से प्रवेश करेंगे और हमारे वास्तव स्वरूप को स्पर्श करके जाग्रत करेंगे। केवल यही एक मार्ग है। हमें एक जागरूक जीव से श्रवण करना

चाहिए, न कि एक पेशेवर वक्ता से। श्रवण करने के बाद हमें कीर्तन करना चाहिए। साधन के और भी अंग हैं, जैसे स्मरण। एक भक्त अपनी समस्त इन्द्रियों को श्रीकृष्ण की सेवा में नियुक्त कर देता है।

श्रवणादि-क्रिया तार 'स्वरूप'-लक्षण।
'तटस्थ'-लक्षणे उपजय प्रेमधन।।

—(चै. च. मध्य 22/103)

स्वरूप-लक्षण का अर्थ है शुद्ध-भक्त का मूल वैशिष्ट्य। एक शुद्ध-भक्त सदा श्रीकृष्ण के बारे में ही बोलेगा तथा श्रीकृष्ण के बारे में ही सुनेगा। जिस प्रकार मछली एवं अन्य जलीय प्राणी पानी के बिना जीवित नहीं रह सकते, उसी प्रकार शुद्ध-भक्त भी श्रीकृष्ण के बारे में बोले या श्रवण किये बिना जीवित नहीं रह सकते। यही उनका जीवन है। जब हम एक शुद्ध-भक्त के साथ श्रवण व कीर्तन में नियुक्त होंगे तो आनुषंगिक रूप में श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम प्राप्त होगा। यह प्रेम प्रत्येक प्राणी की प्रकृति में स्वभाविक रूप से विद्यमान रहता है। हम उसे तपस्या और योग के द्वारा जाग्रत नहीं कर सकते, किन्तु आत्मा का यह नित्य स्वभाव स्वतः जाग्रत हो जायगा अगर हम शुद्ध-भक्तों का संग करेंगे।

श्रीचैतन्य महाप्रभु जी ने भक्ति में पाँच मुख्य अंगो को स्वीकार किया है—(1) भागवत श्रवण, (2) मथुरा-वास, (3) श्रीमूर्त्ति-सेवन, (4) साधुसंग, एवं (5) नाम कीर्त्तन।

हमें श्रीमद्भागवत में वर्णित भगवान् की अप्राकृत कथाओं को श्रवण करना चाहिए। हमें यह कथाएँ शुद्ध-भक्तों से श्रवण करनी चाहिए और इस प्रकार उनका संग (साधुसंग) करना

चाहिए। तथा हमें मथुरा या वृन्दावन जैसे पवित्र स्थानों में निवास करना चाहिए, जहाँ श्रीकृष्ण ने अपनी भौम-लीला का विस्तार किया। हमें अप्राकृत राज्य में वास करना है। जिस स्थान पर भक्तगण भगवान् का महिमा गुणगान करते हैं, उसे भी अप्राकृत राज्य माना जाता है। और हमें पूरी श्रद्धा के साथ श्रीकृष्ण के श्रीमूर्ति रूप (श्रीविग्रह) की सेवा करनी चाहिए। तथापि भक्ति के इन प्रमुख अंगों में नाम-कीर्तन को ही सर्वाधिक महत्व दिया गया है।

अपराध-रहित होकर श्रीकृष्ण के पवित्र नामों का कीर्तन करने से सब प्रकार के दुःख तुरन्त दूर हो जाते हैं और जीवन के चरम लक्ष्य कृष्णप्रेम की प्राप्ति होती है। अब हम इन पाँच प्रमुख भक्ति-अंगों की और विस्तार से चर्चा करेंगे।

....

श्रीचैतन्य महाप्रभु जी ने वेद एवं श्रीमद्भागवत की शिक्षाओं पर आधारित अप्राकृत प्रेम का प्रचार किया। श्रीचैतन्य महाप्रभु जी एक प्रकाण्ड विद्वान थे। श्रीमन् महाप्रभु जी के अनुसार श्रीमद्भागवत सभी शास्त्रों का सार है। वेदों के संकलनकर्त्ता, श्रीव्यासदेव जी ने गरुड़ पुराण में कहा है कि श्रीमद्भागवत में वेदों के वैशिष्ट्य का संरक्षण एवं वृद्धि हुई है।

हम श्रीकृष्ण के बारे में कैसे जान सकते हैं? हम उन्हें केवल कानों के माध्यम से जान सकते हैं, आँखों से नहीं। हम साधुओं से श्रीकृष्ण के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में सुन सकते हैं पर दुर्भाग्यवश हमें ऐसा लगता है कि भगवान् के बारे में सुनने के लिए हमारे पास समय नहीं है। महाराज परीक्षित ने निरन्तर सात दिनों तक बिना भोजन, विश्राम

और यहाँ तक कि निर्जल रहकर श्रीशुकदेव गोस्वामी जी से श्रवण किया। तब ही वे जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सके। परन्तु यदि हमारे पास श्रवण करने के लिए समय ही नहीं है तो हम चरम लक्ष्य का संधान कैसे प्राप्त करेंगे? यदि आप भौतिक ज्ञान भी प्राप्त करना चाहते हैं तो आपको उपयुक्त शिक्षकों के पास जाकर उनसे श्रवण करना होगा। इसी प्रकार कान से सुने बिना अप्राकृत ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। हमारी सभी इन्द्रियों में से यह आत्मा के सर्वाधिक निकट है।

शास्त्रों में वर्णित है कि, एक प्रमाणिक शुद्ध-भक्त के संग से ही भक्ति को प्राप्त किया जा सकता है। और एक शुद्ध-भक्त का संग किसे प्राप्त होगा? जिन्होंने जाने या अनजाने में श्रीकृष्ण की सेवा की है, उनकी बहुत-सी सुकृतियाँ अर्जित हो जाती हैं। ये सुकृतियाँ श्रद्धा के रूप में विकसित होती हैं तथा यह श्रद्धा आगे एक शुद्ध-भक्त के पास जाकर हरिकथा श्रवण करने के लिए प्रेरित करती है। ये सुकृतियाँ ही भक्ति का मूल कारण हैं। ये नित्य हैं, न कि कोई भौतिक शुभ कर्म।

अब एक शुद्ध-भक्त की कोई भौतिक इच्छाएँ नहीं हो सकती। किन्तु तर्क के लिए यदि कोई शुद्ध-भक्त संसार की किसी नाशवान् वस्तु को पाने के लिए इच्छा और प्रयास करता है तो भगवान् उसके मार्ग में कुछ बाधा उत्पन्न कर देंगे। यदि भूल से या अज्ञानता के कारण एक शुद्ध-भक्त स्वर्ग आदि लोकों को प्राप्त करने या किसी जागतिक वस्तु की प्राप्ति की कामना करता है तो भगवान् उसकी राह में व्यवधान खड़ा कर देंगे। क्या इसका अर्थ यह है कि भगवान्

ऐसे भक्त के प्रति कृपालु नहीं हैं? नहीं बल्कि यह उनकी अनुकम्पा है, उनकी दयालुता है क्योंकि वे जानते हैं कि इस संसार का यह धन उनके भक्त के लिए विष समान है। असल में भक्त को इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि हम भोग करना चाहते हैं तो हमें संसार की क्षणभंगुर वस्तुओं से सम्पर्क साधना होगा। परन्तु हम भगवान् का भोग नहीं कर सकते; हम गुरु और भगवान् का भोग नहीं कर सकते। हम केवल अनित्य (नाशवान्) वस्तुओं का भोग कर सकते हैं। जब भगवान् यह देखते हैं कि उनका भक्त संसार की अनित्य वस्तुओं के पीछे जा रहा है, भोगने की इच्छा से जगत की विषैली सम्पत्ति माँग रहा है, तब वे उसे ऐसा करने की अनुमति प्रदान नहीं करते। इसे केवल वे ही समझ सकते हैं जिनका कोई अन्य हेतु (गलत उद्देश्य) नहीं है। वे ही शुद्ध-भक्त तथा भगवान् की अनुकम्पा को समझ सकते हैं। किन्तु जिनका उद्देश्य ठीक नहीं है वे सोचते हैं कि उनकी निम्न इच्छाओं की पूर्ति करके भगवान् या गुरुदेव ने उन पर कृपा की है। जिनकी अन्य कोई इच्छा नहीं है, केवल वे ही भगवान् की वास्तविक दया को समझ सकते हैं।

....

श्रीचैतन्य महाप्रभु जी ने अपने शिक्षाष्टकम् में हमें सिखाया है—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि।।

"मुझे धन नहीं चाहिए, मुझे जन या मुक्ति नहीं चाहिए और ना ही मुझे भौतिक ज्ञान चाहिए। कृपया मुझे अपने

श्रीचरणकमल की ऐकान्तिक भक्ति प्रदान कीजिए। मुझे और कुछ नहीं चाहिए।" यदि हम इसके अलावा कुछ भी चाहेंगे तो स्वतः ही पछतावा होगा। जब हम साधुसंग अर्थात् सच्चे साधुओं की संगति प्राप्त करते हैं तब हम इस संसार के जन्म-मृत्यु के चक्र तथा तीन तापों से मुक्त हो जाते हैं। श्रीकृष्ण अपने निजजन को हमारा उद्धार करने के लिए भेजते हैं।

जब हम श्रीकृष्ण से जुड़ेंगे तो माया से हमारी मुक्ति हो जायगी। परन्तु श्रीकृष्ण हमसे बात नहीं करते; उनकी श्रीमूर्त्ति (श्रीविग्रह) मन्दिर में मौन खड़ी रहती है। उन्होंने अनेकों भक्तों में से शायद किसी से बात की होगी, पर वे मुझसे बात नहीं करते। दूसरी ओर मैं जानता हूँ कि मेरा शरीर नाशवान् है। और मैं यह भी जानता हूँ कि बाकी सब शरीर भी नाशवान् हैं, अस्थायी हैं और ये नहीं रहेंगे। यह जानने के पश्चात भी कि वे सब अस्थायी हैं, मैं उनसे विचारों का आदान-प्रदान करता हूँ। क्योंकि हम इस विश्व के जीवित प्राणियों के साथ वार्तालाप कर सकते हैं तथा विचारों का आदान-प्रदान कर सकते हैं, इसलिए हम उनमें आसक्त हो जाते हैं तथा उनके साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं। पर श्रीकृष्ण तो वहाँ मौन होकर खड़े हैं, अतः हमारी उनमें आसक्ति कैसे होगी? यह हमारी समस्या है।

कपिल भगवान् ने इसका समाधान किया है। हो सकता है कि भगवान् की श्रीमूर्ति आपसे बात न कर रही हो, पर आप शुद्ध-भक्तों को एवं साधुओं को देख सकते हैं, उनसे बात कर सकते हैं, उनके साथ विचारों का आदान-प्रदान कर सकते हैं।

प्रसंगमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्।।

—(भाः 3/25/20)

यदि आप एक शुद्ध-भक्त की संगति में हो तो आपका उद्धार हो जायगा। शुद्ध-भक्त सदा विश्व में परिभ्रमण करते रहते हैं।

अब साधु-संग करने के छः तरीके हैं। इसे श्रीरूप गोस्वामी जी ने अपने उपदेशामृत ग्रन्थ में बताया है—

ददाति प्रतिगृह्नाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुंक्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्।।

जब हम किसी को प्रेम करते हैं तब हम क्या करते हैं? हम उसे कोई ऐसी वस्तु देते हैं जो हमें प्रिय हो और उसके बदले में जो प्राप्त होता है उसे हम स्वीकार करते हैं। यह लेन-देन है। हम उस व्यक्ति के लिए अपना हृदय खोलकर रख देते हें तथा उसके हृदय के शब्दों को सुनते हैं। हम उसकी सेवा करते हैं, उसे विविध प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन खिलाते हैं और बदले में ऐसा ही कुछ स्वीकार करते हैं। यही तरीका है मित्रमंडली से सम्बन्ध बनाने का। अब यदि हम इसी प्रकार उन लोगों से सम्बन्ध जोड़ें जो बंधन में जकड़े हुए हैं (बद्ध जीव), तो हम सांसारिक वस्तुओं में आसक्त हो जायेंगे। परन्तु यदि हम साधुओं के साथ ऐसा आदान-प्रदान करेंगे तो यह श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम की ओर ले जायगा। यदि हम साधु को संसार की कोई वस्तु देते हैं तो वे उसे स्वीकार कर लेते हैं और श्रीकृष्ण की सेवा में लगा देते हैं। तब इस प्रकार उसे पवित्र करने के पश्चात्, हमें वह प्रसाद रूप में वापिस दे देते हैं।

मेरे गुरुजी ने मुझे बताया था कि अगर तुम अन्य प्रयोजन के लिए प्राप्त, दान, का प्रयोग स्वयं के लिए करते हो तो तुम विष पान कर रहे हो। तुम सबकुछ गुरु और वैष्णवों को दे दो, उनके द्वारा वह विष नष्ट कर दिया जायगा। उनके पास वह शक्ति है क्योंकि उन्हें अपने वास्तविक स्वरूप की पुनः प्राप्ति हो चुकी है। हम नहीं जानते कि सब कुछ श्रीकृष्ण का है, पर वे जानते हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभु जी ने तपन मिश्र को यह निर्देश दिया कि श्रीसनातन गोस्वामी जी को एक वस्त्र दिया जाय। श्रीसनातन गोस्वामी जी ने महाप्रभु से कहा कि वे कोई नया वस्त्र नहीं स्वीकार करेंगे। बल्कि वे ऐसा वस्त्र लेना चाहते हैं जिसे पूर्व में किसी भक्त ने धारण किया हो, फिर वह प्रसादी होगा।

दूसरी बात हम भक्त के लिए अपना हृदय खुला रखेंगे—''गुह्यम आख्याति पृच्छति।'' यदि हम अपना हृदय खुला नहीं रखेंगे तो साधु भी अपना हृदय नहीं खोलेंगे; वे भजन के रहस्यों को नहीं बतायेंगे। वे खुलकर तभी बोलते हैं जब वे उस व्यक्ति की परीक्षा कर लें तथा उसे उपयुक्त पायें। अतः हमें अपनी दुर्बलताओं के बारे में निर्भीक होकर स्पष्ट बात करनी चाहिए। इस प्रकार साधु के साथ हमारा हृदय से हृदय मिलाकर सम्बन्ध स्थापित हो जायगा।

इसके बाद हमें साधु को बहुत भक्ति एवं प्रीति के साथ भोजन कराना चाहिए। शुद्ध-भक्त ऐसा देखते हैं कि केवल श्रीकृष्ण ही एकमात्र भोक्ता हैं तथा समस्त वस्तुएँ उनकी ही हैं। इस प्रकार वे (शुद्ध-भक्त) सब कुछ श्रीकृष्ण की सेवा

में अर्पित कर देते हैं तथा अर्पण के पश्चात् हमें प्रसाद देते हैं। यदि तुम ऐसा सोचकर प्रसाद को ग्रहण करोगे कि यह श्रीकृष्ण का शेषांश (दिव्य उच्चिष्ट) है तो माया के चंगुल से तुम्हारा उद्धार हो जायगा।

इसी प्रकार हमें साधुओं का संग करना चाहिए। यदि हम बद्ध-जीवों के साथ अर्थात् विश्व के सुशुप्त जीवों के साथ इस प्रकार आदान-प्रदान करेंगे तो हम उनमें आसक्त हो जायेंगे। इसलिए एक साधु के साथ ऐसे सम्बन्ध को विकसित करना कहीं बहुत अधिक लाभदायक है। परन्तु केवल एक साधु के शरीर के निकट रहने मात्र से ही उनका संग नहीं हो जाता। खटमल और मच्छर भी साधु के शरीर के सम्पर्क में रहते हैं। पर वे क्या करते हैं? वे खून चूसते हैं। इस प्रकार साधु का शोषण करने से उनका संग नहीं होता। आपको साधु की मानसिकता, उनके विचारों का अनुसरण करना होगा। साधु श्रीकृष्ण की सेवा के बारे में सोचता है तथा यदि हम उनका अनुसरण करते हैं तो हम उनका संग प्राप्त कर सकते हैं, भले ही हम उनसे हज़ारों मील दूर हों। दूसरी ओर बिना उस चेतना के भले ही हम शारीरिक रूप से उनके बहुत निकट हों, यहाँ तक कि उनके साथ एक ही बिस्तर पर सोते हों, पर हम कभी भी साधु का संग नहीं प्राप्त कर पाते। साधु केवल श्रीश्रीराधाकृष्ण की सेवा के लिए हैं; हमें उनके इस विचार का अनुसरण करना होगा। वास्तविक संग का अर्थ है सेवोन्मुखी होकर साधु के संसर्ग में रहना।

तब माता देवहुति ने पूछा, "आपने हमें साधुसंग करने का परामर्श दिया है। पर साधु कौन है? कृपया हमें उन

गुणों के बारे में बताइये जिससे हम साधु को पहचान सकें। कपिल भगवान् ने उत्तर दिया कि साधु के दो प्रकार के गुण होते हैं। यथा,—स्वरूप-लक्षण तथा तटस्थ-लक्षण। स्वरूप का अर्थ है मूल या वास्तविक। अतः स्वरूप-लक्षण उस गुण को लक्ष्य करता है जिसके बिना कोई व्यक्ति सच्चा साधु नहीं बन सकता। साधु का वास्तविक लक्षण यही है कि वह सभी कार्य केवल भगवान् की संतुष्टि के लिए करता है। जब यह गुण भक्त में विद्यमान रहता है, तब दूसरे गुण अर्थात् तटस्थ-लक्षण उसका अनुसरण करते हैं। ये गौण-लक्षण क्या हैं? भगवान् कपिल कहते हैं—

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः।।

—(भाः 3/25/21)

तितिक्षवः —साधु सदैव सहनशील एवं दयालु होगा। क्यों? श्रीकृष्ण की सेवा के अलावा उसकी अन्य कोई इच्छा नहीं होती। यदि इस सेवा के अलावा आपकी कोई और इच्छा है तो आप सहनशील नहीं बन सकते। यही श्रीचैतन्य महाप्रभु जी के शिक्षाष्टकम् के तीसरे श्लोक का अर्थ है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः।।

''हमें तृण से अधिक सुनीच होना चाहिए और वृक्ष से अधिक सहिष्णु; हमें सबका सम्मान करना चाहिए तथा किसी दूसरे से सम्मान की आशा नहीं करनी चाहिए।''

यह इस श्लोक का सामान्य अर्थ है। **श्रीश्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुर प्रभुपाद जी** ने कहा है

कि जिन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है अर्थात् जिनका स्वरूप-भ्रम है, वे तृण से अधिक दीन नहीं हो सकते; वे कभी भी हरि-कीर्तन नहीं कर सकते तथा भक्ति-योग का पालन नहीं कर सकते। जिसकी अपने निज स्वरूप के प्रति भ्रान्त धारणा है, उसमें शरीर सम्बन्धि इच्छाएँ रहेंगी। उसकी कनक (धन की चाह), कामिनी (स्त्रीसंग का आकर्षण) और प्रतिष्ठा (नाम, सम्मान और यश) की इच्छा होगी। जब उसके भोग में बाधा उत्पन्न होगी तब वह क्रुद्ध को जायगा। वह असंतुलित व असहिष्णु हो जायगा। भले वह बाहरी तौर पर सम्मान व सहिष्णुता का दिखावा करेगा, पर यह पाखण्ड होगा। साधु बनना इतना आसान नहीं है। किसी व्यक्ति में इन गुणों का पाया जाना बहुत दुर्लभ है।

कारुणिकाः — साधु उदार होंगे, उनकी विश्व के सभी जीवों के प्रति अनुकम्पा की भावना होगी। साधु श्रीकृष्ण को देखता है और यह कि सबकुछ श्रीकृष्ण से जुड़ा हुआ है। अतः वह विश्व के सभी प्राणियों को स्वाभाविक रूप से समान प्रीति करता है। अपनी योग्यता के अनुसार साधु, गुरु एवं वैष्णवों के व्यवहार में कुछ अन्तर देख सकता है, पर उनकी प्रीति सबके लिए एक समान होती है। वे जानते हैं कि हम भगवान् श्रीकृष्ण के साथ अपना सम्बन्ध भूल गए हैं और यही हमारे दुःखों का मूल कारण है। हम हमेशा सोये रहते हैं—शरीर का यह स्वाभाव है कि वह सुप्त अवस्था में रहता है, पर हमें इस आलस्य भाव के विरुद्ध लड़ना चाहिए अन्यथा हम सुष्ठु रूप से श्रीकृष्ण का भजन नहीं कर पायेंगे। भले ही हम पूरा दिन और पूरी रात सो जायें पर फिर भी हमें

नींद आती रहेगी। देखिये गोस्वामियों ने किस प्रकार भजन किया। वे जानते थे कि यह नश्वर शरीर किसी भी समय छूट सकता है, इसलिए उन्होंने स्वयं से प्रश्न किया कि, ''हम अपना समय नष्ट क्यों करें?'' श्रीकृष्ण का भजन करने का अर्थ है श्रीकृष्ण की कथा श्रवण करना। श्रीकृष्ण के विषय में श्रवण करना भक्ति है, श्रीकृष्ण के विषय में कथा करना भक्ति है। यही हमारा जीवन है। हमें अपना समय बर्बाद नहीं करना चाहिए बल्कि बारम्बार यह सब बातें सुननी चाहिए।

कभी-कभी हम कहते हैं कि, ''ओह, मैंने तो पहले से ही यह सब बातें सुन रखी हैं।''वास्तव में हमने कभी ठीक से सुना ही नहीं है। श्रीचैतन्य महाप्रभु जी ने प्रह्लाद महाराज जी की कथा सौ बार सुनी थी और उसके बाद भी वे अपने पार्षदों को उसे पुनः सुनाने के लिए कहते थे। ऐसी कथाएँ भौतिक शब्दों से रचित नहीं होती, अतः वे कभी नीरस नहीं हो सकती। आप इनको श्रवण करके हर पल भक्ति रस का आस्वादन कर सकते हैं। इसलिए हमें अपनी सम्पूर्ण अज्ञानता को त्यागकर, एक पल समय व्यर्थ किये बिना कृष्ण-भजन प्रारम्भ कर देना चाहिए।

करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये।।

—(भाः 9/4/18)

एक भक्त अपने कानों को किसी शुद्ध-भक्त से श्रीकृष्ण का महिमा गुणगान श्रवण करने में लगाता है। ऐसा शुद्ध-भक्त जिसने अपना सम्पूर्ण जीवन श्रीकृष्ण की सेवा के लिए समर्पित कर दिया है, वह ही श्रीकृष्ण का महिमा गुणगान कर सकता है। यही सत्कथा है। मंच पर भाषण देने वालों का अन्य

उद्देश्य होता है। जब वे श्रीकृष्ण के विषय में बोलते हैं, तब उनका ध्येय धन, नाम और यश आदि प्राप्त करना होता है। वह हरिकथा नहीं है। हरिकथा केवल एक सच्चा साधु ही कह सकता है।

मुकुन्दलिंगालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽंगसंगमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते।।

—(भाः 9/4/19)

मुकुन्दलिंगालयदर्शने दृशौ — जिस मन्दिर में भगवान् के श्रीविग्रहों की सेवा होती है साधु अपने नेत्रों को उस मंदिर तथा श्रीविग्रहों का दर्शन करने में लगाता है। वह अपने शरीर को भगवान् का श्रीविग्रह स्पर्श करने में लगाता है ताकि उत्तम भक्ति उसके भीतर प्रवेश कर सके। यदि उसे कोई सुन्दर सुगंधित पुष्प मिलता है तो वह स्वयं उसकी सुगन्ध नहीं लेता बल्कि सर्वप्रथम भगवान् को अर्पण करता है तथा बाद में उसे प्रसाद के रूप में ग्रहण करता है।

पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे — साधु अपने चरणों को भगवान् के अप्राकृत तीर्थों की परिक्रमा करके तथा भगवत् पूजा सामग्री एकत्रित करके श्रीकृष्ण की सेवा में लगाता है। इस प्रकार हमें अपनी सभी इन्द्रियों को श्रीकृष्ण-सेवा में लगाना चाहिए।''

हम अपनी व्यक्तिगत क्षमता के अनुरूप इसे समझ सकते हैं। एक शुद्ध-भक्त श्रीकृष्ण का साक्षात् दर्शन करता है; वह श्रीकृष्ण से बात करता है। श्रीकृष्ण भी उसके साथ चलते हैं, पर हमारे साथ नहीं क्योंकि हमने इस शरीर के साथ कुछ सम्बन्ध बनाकर रखा हुआ है तथा शरीर में आसक्ति भी है।

हम इसे नहीं देख सकते क्योंकि हमारे नेत्र (दृष्टि) शुद्ध नहीं है। हमें ऐसे प्रेम-नेत्रों की आवश्यकता है, जो अप्राकृत प्रेम के द्वारा शीतल हो चुके हैं। हम श्रीकृष्ण का दर्शन केवल भक्ति-नेत्रों के द्वारा ही कर सकते हैं।

श्रीकृष्ण का दर्शन करना इतना सहज नहीं है क्योंकि उन्हें हम केवल भक्ति-नेत्रों से ही देख सकते हैं। हमारे अन्दर भोग करने की वासना है; हम काम-वासना से परिपूर्ण हैं। जब वह भोग-वासना हमें इन्द्रिय-तृप्ति के लिए लालायित करती है, तब हम भौतिक पदार्थों के सम्पर्क में आते हैं। इस प्रकार हम मृत्यु के कारागार में लाखों वर्षों से कैद हैं। यही हमारी विरासत है। तथापि जब हमारे नेत्र केवल श्रीकृष्ण के लिए होंगे, तब श्रीकृष्ण प्रकट हो जायेंगे। अतः शुद्ध-भक्त, उत्तम-भक्त सभी जगह श्रीकृष्ण का ही दर्शन करते हैं। और वे केवल प्रसाद ग्रहण करते हैं। वे ऐसा कुछ भी नहीं ग्रहण करते जो श्रीकृष्ण को अर्पण नहीं किया जा सकता। वे हमेशा श्रीकृष्ण के बारे में सोचते हैं। भगवान् के शुद्ध-भक्त केवल उनका स्मरण एवं कीर्तन ही पसन्द करते हैं। दिन-रात वे भक्तों के मुख-कमल से श्रीकृष्ण के अप्राकृत नाम, रूप, गुण तथा लीलाकथा श्रवण करते हैं।

हमें दूसरों के दोष नहीं देखने चाहिए। यदि हम हालात में सुधार लाना चाहते हैं तो सबसे पहले हमें अपनी कमियों (दोषों) को देखना चाहिए। एक वास्तव वैष्णव या भक्त एक हंस की भाँति है। हंस के पास यह क्षमता होती है कि वह दूध और पानी के मिश्रण में से दूध निकाल ले। वैष्णव परमहंस होते हैं। वे दूसरे के अच्छे गुणों को देखते हैं, बुरे गुणों को

नहीं। सभी सुप्त बद्ध-जीवों में अच्छे व बुरे दोनों गुण होते हैं। केवल आत्म-अनुभूति-प्राप्त (सिद्ध) जीवों में कोई दुर्गुण नहीं होता। इसके बावजूद वे दूसरे के सद्‌गुणों को देखते हैं तथा दुर्गुणों की उपेक्षा करते हैं। हम बद्ध जीव, दुर्गुण देखते हैं व सद्‌गुणों को नकार देते हैं। यही एक कारण है कि हम बंधन में हैं। यदि हम इस बंधन की अवस्था से जाग्रत (मुक्त) होना चाहते हैं तो हमें अपने अन्दर सुधार लाने की आवश्यकता है। जो गुरु-वैष्णव अपने शिष्यों से प्रीति करते हैं, वे उनके हित के लिए कभी-कभी उनमें संशोधन करते हैं। वे उन्हें नियंत्रित कर सकते हैं या दण्ड दे सकते हैं पर साधक के प्रति उस प्रकार का शासन या कड़े शब्दों का प्रयोग, गुरु-वैष्णवों की अपनी काम-वासना की पूर्ति में बाधा की प्रतिक्रिया नहीं होती। शुद्ध-भक्तों में काम (अहं) नहीं होता। अतः यदि संयोगवश वे शासन करते हैं तो वह प्रीतिवश होता है।

कुछ लोग अपना गुस्सा साधु पर उतारते हैं, पर हमें ऐसा नहीं करना चाहिए। साधु की निन्दा करना एक घोर अपराध है तथा हमारे पारमार्थिक मंगल के लिए हानिकारक है। ऐसे अपराधों को रोकने के लिए शुद्ध-भक्त अपना क्रोध व्यक्त कर सकते हैं। पर ऐसा वे उस अपराधी के पारमार्थिक मंगल (उत्थान) के लिए करते हैं, न कि अपने व्यक्गित अहं की तुष्टि के लिए। किन्तु इस प्रकार हर व्यक्ति को क्रोध प्रदर्शित करने का अधिकार नहीं है। जो शुद्ध-भक्त या सद्‌गुरु जीवों से प्रीति करते हैं, उन्हें ही ऐसा करने का अधिकार है। वे दण्ड दे सकते हैं क्योंकि वे दूसरों का वास्तविक मंगल

कर सकते हैं। हमें उनकी कृपा की आवश्यकता है। बिना श्रीहरि की कृपा के हम साधु से नहीं मिल सकते तथा बिना साधु की कृपा के हम श्रीहरि को नहीं प्राप्त कर सकते। यदि आप श्रीकृष्ण-सेवा-प्राप्ति के लिए बहुत उत्सुक हैं तो श्रीकृष्ण साधु के रूप में आपके पास आ जायेंगे। जब आपकी श्रीकृष्ण-सेवा करने की सच्ची इच्छा होगी तब आपको यह पहचानने की शक्ति मिल जायगी कि वास्तव में कौन साधु है और कौन नहीं। भगवान् आपके अन्दर बैठे हैं और वे आपको सच्चे साधु की खोज करने में सहायता करेंगे। वे आपको श्रद्धा-विश्वास तथा समझने की शक्ति प्रदान करेंगे। एक निष्कपट जीव के साथ कभी धोखा नहीं होगा।

....

विभिन्न संस्कृतियों में काल (समय) को चार भागों (युगों) में बाँटा गया है। वे हैं स्वर्ण, रजत, कांस्य व लौह युग। वेदों में इसे क्रमशः सत्य, त्रेता, द्वापर व कलि युग कहा जाता है। कुछ लोग इन युगों को अलग-अलग अवधियों में विभाजित करते हैं, पर विचार एक ही है। असीमित (अनन्त) काल को चार आवर्तक (बार-बार होने वाले) युगों में विभाजित किया गया है। जैसे-जैसे वे युग गुजरते जाते हैं हम मनुष्य की स्थिति में, आनन्द व निष्कपटता से दुःख व अज्ञानता तक क्रमिक गिरावट देखते हैं। वर्तमान कलियुग में यह पतन अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाता है। इस अन्धकार युग में अधिकांश लोग अधार्मिक होंगे और इसलिए एक सद्‌गुरु प्राप्त करना बहुत कठिन है। इस अन्धकार युग में जीवों की दुर्दशा को देखकर भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमति राधारानी जी की अंग-कान्ति

और भाव को अंगीकार करके श्रीचैतन्य महाप्रभु जी के रूप में अवतरित हुए। श्रीमति राधारानी श्रीकृष्ण की नित्य-संगिनी हैं; वे उनकी सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं तथा श्रीकृष्ण उनका (राधारानी जी का) भाव ग्रहण करके श्रीकृष्ण चैतन्य हुए।

श्रीचैतन्य महाप्रभु जी ने कहा है कि भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध का विस्मरण ही हमारे दुःख का मूल कारण है। हमें उन्हें याद रखना होगा; यदि हम उन्हें याद रखते हैं तो किसी प्रकार का कोई दुःख नहीं होगा। हम किस प्रकार ऐसा कर सकते हैं? ध्यान के द्वारा? इस कलियुग में ध्यान की विधि सफल नहीं हो पाएगी क्योंकि बद्ध-जीव का चित्त चंचल है। चित्त हमेशा बन्दर की तरह उछल-कूद करता रहता है तो हम किस प्रकार ध्यान करेंगे? और कुछ नहीं केवल जगत की बातें ही हमारे मन में घूमेंगी। सिर्फ आँखें बन्द करके हम ध्यान नहीं कर सकते। हम अपनी आँखे बन्द करते हैं और मन ही मन लंदन की सैर कर आते हैं। ऐसा होना अनिवार्य है क्योंकि चित्त उन धारणाओं के गोदाम जैसा है जो इन्द्रियों के माध्यम से हमारे अंदर प्रविष्ट हुई हैं। जब हम ध्यान करने का प्रयास करते हैं, तो ये धारणाएँ सतह पर पुनः अवतरित हो जाती हैं।

सांसारिक वस्तुओं के प्रति हमारी आसक्ति है और यही हमारे बंधन का कारण है। इस बंधन से मुक्त होने के लिए हमारी जिन वस्तुओं में आसक्ति है, उन्हें श्रीकृष्ण की सेवा में अर्पण कर देना चाहिए। केवल यही एक मार्ग है जिसके द्वारा हम सांसारिक आसक्ति के बंधनों से मुक्त को सकते हैं। भजन का अप्राकृत विषय—भगवान् श्रीकृष्ण पर ध्यान केन्द्रित करना ही मुख्य उद्देश्य है।

सत्ययुग में ध्यान सम्भव था। इस युग के लोगों में पवित्रता, अनुकंपा (दया) तथा सत्य के प्रति सम्मान की भावना थी। पर त्रेतायुग में इन गुणों में कमी आई तथा भगवान् पर ध्यान लगाने की विधि की संभावना समाप्त हो गई। अतएव साधुओं ने यज्ञ की व्यवस्था निर्धारित की। चूंकि द्वापर युग में लोग मंत्रों का सही उच्चारण नहीं कर पाते थे इसलिए साधु एवं शास्त्रों ने भगवान् के श्रीविग्रह स्वरूप की पूजा नियत की। श्रीविग्रह की सेवा करने के लिए आपको अपनी सभी इन्द्रियों को नियुक्त करना होगा। पूजा की वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करना लक्ष्य है, और ऐसा करने के लिए आपको अपनी समस्त इन्द्रियों को श्रीविग्रह की सेवा में लगाना होगा। किन्तु कलियुग में हम इतने असमर्थ (बीमार) हो गए हैं कि हम सही तरीके के पूजा भी नहीं कर सकते। इस युग में हमारा शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य अत्यन्त ही दुर्बल है। हम सब बीमार हैं तथा एक बीमार व्यक्ति को पूजा करने की मनाही है। फिर हम सुष्ठु रूप से पूजा कैसे कर सकते हें? अतः भगवान् ने कहा, ''तुम हरिनाम कर सकते हो। मैं इस धरा पर हरिनाम के रूप में अवतार लूँगा तथा समस्त शक्तियाँ हरिनाम में संचारित कर दूँगा।''

इस पवित्र नाम का जप करने से तुम्हें सर्वोच्च वस्तु की प्राप्ति होगी। कलियुग में सत्य का तात्पर्य है—हरिनाम। हरिनाम ही परम सत्य है। श्रीकृष्ण कलियुग में नाम के रूप में अवतरित हुए हैं। अतः उस नाम की शरण में जाओ। नाम और नामी अभिन्न (एक ही) हैं। शुद्ध-भक्त के संग में हरिनाम जप करो।

हरिनाम कोई भौतिक ध्वनि नहीं है। आप देखेंगे कि भौतिक ध्वनि के द्वारा जिस वस्तु का निर्देश किया जाता है वह उस ध्वनि से अलग होती है। 'पानी'-शब्द पानी नामक द्रव्य को इंगित करता है किन्तु 'पानी'-शब्द उस द्रव्य से अलग है। अतः केवल 'पानी'-शब्द का उच्चारण करने से हम अपनी प्यास नहीं बुझा सकते। पर इसके विपरीत कृष्ण एवं कृष्ण का नाम एक ही है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु जी ने लिखा है—

चेतोदर्पण-मार्जनं भव-महादावाग्नि-निर्वापणं
श्रेयःकैरवचन्द्रिका-वितरणं विद्यावधू-जीवनम्।
आनन्दाम्बुधि-वर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम्।।

श्रीकृष्ण का नाम अपने हृदय की गहराई से लो—हरे कृष्ण। आपको सब कुछ मिल जायगा। आपका चित्त पवित्र हो जायगा। उनका नाम लेने (उच्चारित करने) से ही सभी कठिनाईयाँ दूर हो जायेंगी। यह प्रथम उपलब्धि है। एक बार आपकी सभी कठिनाईयाँ दूर हो गईं तो आपको भौतिक जीवन की भीषण अग्नि (दावानल) का सामना नहीं करना पड़ेगा। सारे विश्व में जंगल की आग फैली हुई है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का ऐसा मिथ्या अभिमान है कि वह इस संसार का है। पर यदि हम श्रीकृष्ण से प्रेम करें तो हम यह देखेंगे कि प्रत्येक प्राणी श्रीकृष्ण से जुड़ा हुआ है और हम उनसे इसी सम्बन्ध की वजह से प्रेम करते हैं। माता-पिता को अपने बच्चों से प्यार करने की शिक्षा नहीं दी जाती। वे उनसे स्वतः ही प्यार करते हैं क्योंकि उनका अपने बच्चों से सम्बन्ध है। अतः हमें श्रीकृष्ण की शरण में रहना है।

गोलोक वृन्दावन में सभी आनन्द में डूबे रहते हैं। हर पल वे उस अति मधुर उन्नत-उज्ज्वल आनन्द का अनुभव करते हैं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य श्रीकृष्ण को संतुष्ट करना है। उनका केन्द्र बिंदु एक ही है। यदि आप एक केन्द्र-बिन्दु रखकर अलग-अलग वृत्तों (circles) की रचना करते हैं तो उनमें कोई टकराव नहीं होगा। पर यदि उनके केन्द्र-बिन्दु अलग-अलग हैं तो वे वृत्त आपस में एक दूसरे को काटेंगे तथा उनमें विवाद होगा। जब तक अलग-अलग समूह तथा अलग-अलग केन्द्र रहेंगे, तब तक हम इस विश्व में युद्ध को नहीं रोक पायेंगे। महामन्त्र का जप करने से, हरिनाम करने से ही जड़ जगत रूपी जंगल की आग को बुझाया जा सकता है।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।।

श्रील गुरुदेव एवं श्रीकृष्ण की सेवा के अलावा और किसी वस्तु की कामना किए बिना हमें नाम जप करना चाहिए। 'श्रीकृष्ण संकीर्तन' का क्या अर्थ है? संकीर्तन का अर्थ है श्रीकृष्ण के अप्राकृत नाम, रूप, गुण, लीलाओं का सम्पूर्ण तथा विस्तृत कीर्तन एवं जप। हमें दस नाम-अपराधों से दूर रहकर भलिभाँति संकीर्तन करना है।

पद्म पुराण में इन दस नाम-अपराधों का वर्णन किया गया है। इनमें से प्रमुख अपराध है साधु-निन्दा और गुरुदेव को साधारण मनुष्य समझना। श्रीकृष्ण कैसे सहन कर सकते हैं यदि हम उनके प्रिय भक्तों का अपमान करें या उपेक्षा करें। भगवान् कैसे सहन करेंगे यदि हम उनके भक्तों के श्रीचरणों

में अपराध करेंगे? अगर हम उनके चरणकमल में अपराध करेंगे तो भगवान् नहीं सहन करेंगे। यह सबसे बड़ा अपराध है और हमें इससे बचने का हर सम्भव प्रयास करना चाहिए।

हमें सदा अपना और अपनी कमियों का विश्लेषण करना चाहिए क्योंकि यह हमें अपना संशोधन करने में सहायता करेगा। बद्ध-जीवों की सबसे बड़ी कमी है कि उन्हें अपने आप में तो सदा सद्गुण दिखते हैं और दूसरों में केवल दुर्गुण। किन्तु भले ही भक्तों और वैष्णवों में कुछ कमियाँ हों, हमें उस ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। बल्कि हमें अपनी कमियों की ओर ध्यान देना चाहिए और दूसरों के अच्छे गुणों की ओर। तभी हम आगे बढ़ सकते हैं। दूसरों में दोष ढूँढने की यह वृत्ति हमें वैष्णव अपराध की ओर ले जाती है। इसीलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु जी ने हमें श्रीकृष्ण-संकीर्तन करने की विधि सिखाई है—हमें तृण से अधिक दीन होना है, वृक्ष से अधिक सहनशील, सब को सम्मान देना है और अपने आप के लिए कभी सम्मान की आशा नहीं करनी। यदि हम हृदय की गहराई से ऐसे मनोभाव के साथ महामन्त्र जप करेंगे, तो हमें अपना नित्य मंगल प्राप्त हो जायगा। तब हमें यह अनुभव होगा कि हम श्रीकृष्ण के हैं और हम उनके नित्य दास हैं।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।।

हमें अन्तर्हृदय से रो-रोकर श्रीमति राधारानी और श्रीकृष्ण को पुकारना है। यदि हम ऐसा करते हैं तो उसी क्षण श्रीकृष्ण हमारे पास आ जायेंगे। वे हमारे भीतर ही हैं और उन्होंने अपने नाम में अपनी सारी शक्ति संचारित कर दी है। यदि

हम सम्बन्ध-ज्ञान के साथ उनका नाम उच्चारण करेंगे तो आनन्द और कृष्ण-प्रेम के सागर में निमज्जित हो जायेंगे। उसके बाद हम जब भी नाम ग्रहण करेंगे, हमें पग-पग पर अनन्त एवं सम्पूर्ण अमृत का आस्वादन होगा। हरे कृष्ण!

प्रयोजन

इस संसार में प्रत्येक प्राणी का अंतिम लक्ष्य (प्रयोजन) क्या है? अंतिम लक्ष्य है श्रीकृष्ण के प्रति अप्राकृत प्रेम। हमें इस विषय पर केवल आधा घंटा नहीं बल्कि पूरा वर्ष चर्चा करनी चाहिए। हम जहाँ भी जायें वहीं इस विषय पर चर्चा होनी चाहिए।

श्रीचैतन्य महाप्रभु जी की विचारधारा के अंतर्गत महान संत, श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर जी ने श्रीचैतन्य महाप्रभु जी की शिक्षाओं का सार एक संस्कृत श्लोक में दिया है—

आराध्यो भगवान् ब्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना ब्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्‌भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः।।

भजन का सर्वोच्च लक्ष्य कौन हैं? वे हैं श्रीकृष्ण। यहाँ पर श्रीचैतन्य महाप्रभु जी व्रज के राजा नन्द महाराज के पुत्र व्रजेन्द्रनंदन श्रीकृष्ण के बारे में बता रहे हैं। व्रज का अर्थ है, ''जहाँ गइया चरती हैं।'' नन्द महाराज ग्वालों (गोप एवं गोपियों) के राजा (इन्द्र) हैं। ''नन्द महाराज के पुत्र'', नन्दनंदन श्रीकृष्ण, भजन का सर्वोच्च लक्ष्य हैं। नन्दनंदन का अर्थ है ''नन्द का पुत्र''। वृन्दावन नन्दनन्दन श्रीकृष्ण का अप्राकृत धाम है तथा वे वहाँ पर अनेक प्रकार की लीलाएँ करते हैं।

अब श्रीचैतन्य महाप्रभु जी ने हमें नंदनंदन श्रीकृष्ण का भजन करने का ही आदेश क्यों दिया? उन्होंने हमें देवताओं की पूजा करने का आदेश नहीं दिया। उन्होंने हमें योगिओं के आराध्य विषय—'परमात्मा', की आराधना करने का निर्देश नहीं दिया। और न ही उन्होंने हमें ज्ञानियों का लक्ष्य—ब्रह्म की आराधना करके उस पूर्ण-तत्त्व के निराकार स्वरूप में लीन हो जाने को कहा। उन्होंने तो हमें श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओं में प्रदर्शित उनके अनेक रूपों जैसे राम, नरसिंह या वामन आदि की भी आराधना करने की शिक्षा नहीं दी। और श्रीकृष्ण, अपनी लीलाओं में मथुराधीश कृष्ण, कुरुक्षेत्र कृष्ण व द्वारकाधीश कृष्ण के रूप में अवतरित होते हैं। किन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु जी ने विशेष रूप से कहा है कि हमें नन्दनंदन श्रीकृष्ण का ही भजन करना चाहिए। क्यों?

इसका उत्तर है कि हम नन्दनंदन श्रीकृष्ण का भजन अपनी इच्छा के अनुरूप किसी भी सम्बन्ध के तहत कर सकते हैं। दूसरी ओर परमेश्वर के नारायण रूप के साथ हम सब प्रकार के संबंधो में सम्मिलित नहीं हो सकते। श्रीमन् नारायण, प्रभु के ऐश्वर्य रूप को प्रदर्शित करते हैं। इसलिए हमारा केवल दूर से ही उनके साथ मित्रता का सम्बन्ध हो सकता है। लोग नारायण के निकट जाने से डरते हैं क्योंकि वे एक ऐश्वर्यशाली नरेश की लीला कर रहे हैं। उनके भक्त उनके मित्र बन सकते हैं, परन्तु भय के कारण उनकी आत्मीयता में संकोच रहता है। वात्सल्य भाव व माधुर्य भाव अनुपस्थित होते हैं। अतः जो परमेश्वर की सेवा अपने घनिष्ठ मित्र के रूप में, अपना पुत्र समझकर अथवा माधुर्य भाव से करना

चाहते हैं, उन्हें परमेश्वर के साथ इस प्रकार के सम्बन्ध उनके नारायण रूप में नहीं प्राप्त होते। अतः नारायण सभी भक्तों के सामुहिक केंद्र नहीं हो सकते।

किन्तु वृंदावन के ग्वाले, श्रीकृष्ण के साथ यह सब प्रकार के आंतरिक सम्बन्ध स्थापन करना संभव है और भजन के इन विभिन्न स्वरूपों में से गोपियों की माधुर्य भाव से श्रीकृष्ण-आराधना ही सर्वश्रेष्ठ है। गोपियों ने अपनी समस्त इन्द्रियों को श्रीकृष्ण की सेवा में पूरी तरह से समर्पित किया हुआ है तथा गोपियों में से श्रीकृष्ण की नित्य-संगिनी श्रीमति राधारानी जी सर्वोत्तमा हैं। वे उनके अप्राकृत प्रेम की अंतरंग शक्ति का प्रकाश विग्रह हैं तथा श्रीकृष्ण के प्रति उनकी भक्ति अतुलनीय है।

....

श्रीकृष्ण में द्वादश (बारह) रस पाये जाते हैं। रस का अर्थ है सम्बन्ध की परिपक्वता एवं वह आनन्द या आस्वादन जोकि श्रीकृष्ण के साथ एक विशेष सम्बन्ध के अंतर्गत अनुभव होता है। पाँच प्रकार के मुख्य रस हैं। वे हैं शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। इसके अलावा सात प्रकार के गौण रस हैं। वे हैं हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक तथा विभत्स। श्रीमद्भागवतम में इन सभी रसों का वर्णन है। वहाँ पर इस बात का वर्णन है कि किस प्रकार दुष्ट राजा कंस ने श्रीकृष्ण को मारने का प्रयास किया था। कंस ने सोचा था कि, "मैं एक बहुत बड़ा अखाड़ा बनवाऊँगा। उसमें सभी मथुरावासियों और व्रजवासियों को भाग लेने के लिए आमंत्रित करूँगा। उसमें एक मल्लयुद्ध (कुश्ती) का आयोजन

होगा। पहलवान के साथ श्रीकृष्ण और उनके भाई बलराम युद्ध करेंगे और मारे जायेंगे।'' इस प्रकार कंस ने सारी व्यवस्था कर ली थी और बहुत से लोग उस विशाल अखाड़े में इस मल्लयुद्ध को देखने के लिए आये थे। जब श्रीकृष्ण और उनके बड़े भाई बलराम ने अखाड़े में प्रवेश किया तो सब दर्शकों ने श्रीकृष्ण को अलग-अलग रूपों में देखा।

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्तास्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगं गतः साग्रजः।।

—(भाः 10/43/17)

अतः संपूर्ण बारह रस वहाँ प्रकाशित थे। प्रथम था **'वीर-रस'**, जो योद्धाओं का हुआ करता है। पहलवानों ने श्रीकृष्ण को इस प्रकार देखा। साधारण दर्शकों ने श्रीकृष्ण को एक अद्भुत व्यक्ति के रूप में देखा—**'अद्भुत-रस'**। सभी गोपियाँ वहाँ उपस्थित थीं और उन सभी ने श्रीकृष्ण को अपने प्रिय पति के रूप में देखा—**'स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्'**।

श्रीकृष्ण के सभी मित्रों ने उन्हें अपने मित्र के रूप में देखा—**'गोपानां स्वजनोऽसतां'**। मित्रों के बीच **'हास्य-रस'** भी पाया जा सकता है। उदाहरण के लिए श्रीकृष्ण के सखा मधुमंगल श्रीकृष्ण की मिठाई चुरा लेते हैं और इसके फलस्वरूप एक हास्यजनक वातावरण की सृष्टि हो जाती है। 'हास्य-रस' एक गौण-रस है। किन्तु प्रमुख रस **'सख्य-रस'** है। इस 'सख्य-रस' में हम देखते हैं कि 'हास्य-रस' प्रेम की भावना को प्रेरित करता है।

जो अत्याचारी स्वभाव के थे, वे श्रीकृष्ण को देखकर भयभीत हो गए। उन्हें लगा कि उनको दण्ड देने वाला आ गया है। वे बहुत डरे हुए थे, क्योंकि उन्होंने श्रीकृष्ण को उत्तेजित व क्रोधित स्थिति में देखा। यह **'भयानक-रस'** है। और सभी अभिवावकों (माता-पिता) ने जब श्रीकृष्ण को देखा तो उन्हें उनमें अपने प्रिय बालक की छवि दिखाई दी—**'स्वपित्रोः शिशुः'**। यह **'वात्सल्य-रस'** है। माता-पिता के प्यार में **'करुण-रस'** की भी अपनी भूमिका है। करुण का अर्थ है सहानुभूति या दया की भावना। जब उन्होंने अपने समक्ष घटित हो रहे दृश्य को देखा कि एक छोटा-सा बालक उन भयानक योद्धाओं का सामना कर रहा है तो उनमें दया का भाव उत्पन्न हुआ। इसलिए 'वात्सल्य-रस' में 'करुण-रस' समाहित है।

इसके बाद कंस ने सोचा कि मृत्यु उसके पास आ गयी है—**'मृत्युर्भोजपतेर'**। उसने श्रीकृष्ण को एक भयानक रूप में देखा। श्रीकृष्ण भयानक नहीं हैं, पर कंस को वे इसी प्रकार दिखाई दिये। अज्ञानियों ने उन्हें एक साधारण मानव के रूप में देखा—**'विराडविदुषां'**। योगिओं ने श्रीकृष्ण को **'शांत-रस'** में परम सत्य के रूप में देखा। जबकि यादवों ने श्रीकृष्ण का **'दास्य-रस'** में दर्शन किया। अतः हम केवल श्रीकृष्ण में ही सभी पाँच प्रमुख रस व सात गौण रसों को अनुभव कर सकते हैं। श्रीकृष्ण की सेवा करके हम सभी प्रकार के रसों का आस्वादन कर सकते हैं, पर भगवान् के किसी दूसरे स्वरूप की सेवा के द्वारा हम यही परिणाम नहीं प्राप्त कर सकते।

श्रीचैतन्य चरितामृत में श्रीकविराज गोस्वामी जी ने लिखा है कि जीवात्माओं में पचास प्रकार के दिव्य गुण अंश मात्रा में पाये जाते हैं। शिव और ब्रह्मा में पाँच अतिरिक्त अप्राकृत गुण अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। पुनः नारायण अथवा विष्णु में पाँच और गुण पूर्ण मात्रा में विद्यमान हैं। इस प्रकार सब में कुल मिलाकर साठ प्रकार की दिव्य विशेषताएँ या गुण पाये जाते हैं। अब चार अन्य गुण हैं जो श्रीकृष्ण के अलावा और कहीं नहीं मिलेंगे। ये गुण हैं—श्रीकृष्ण-लीला की अतुलनीय मधुरता (लीला मार्धुय), उनके रूप की मधुरता (रूप-मार्धुय), उनकी वंशी की मधुर ध्वनि (वेणु-मार्धुय) तथा उनके प्रेम की मधुरता (प्रेम-मार्धुय)। श्रीकृष्ण की अनेकों आश्र्चयजनक लीलायें हैं जिनमें वे एक मधुर रूप धारण करते हैं। वे एक बहुत विशाल रूप में समस्त अस्त्र-शस्त्रों सहित प्रकट नहीं होते। इसलिए वे पूतना राक्षसी के साथ युद्ध नहीं करते, बल्कि एक शिशु के रूप में अवतरित होते हैं तथा उसके प्रति मधुरता का प्रदर्शन करके उसके स्तन का दूध पीकर उसका वध कर देते हैं। यही श्रीकृष्ण-लीला की विचित्रता है। हम यह भी देखते हैं कि अपने मधुर रूप को संरक्षित रखते हुए भी श्रीकृष्ण गोवर्धन पर्वत को अपने बाएँ हाथ की छोटी अंगुली पर उठा लेते हैं। ऐसा कार्य करने के लिए वे कोई बहुत विशाल और बलशाली आकार नहीं ग्रहण करते। एक छोटे बालक के रूप में श्रीकृष्ण ने भयंकर कालिया नाग के हज़ारों फनों पर कूदकर उसका दमन किया था। भगवान् के और किसी रूप (अवतार) में आपको इस प्रकार की विचित्र लीलाएँ देखने को नहीं मिलेंगी।

श्रीकृष्ण के परिकर भी बहुत मधुर हैं। उनके सखा उनके कन्धों पर चढ़कर पेड़ों की सबसे ऊँची डालियों से फलों को तोड़ते हैं। फिर वह फल श्रीकृष्ण को देने के पहले वे स्वयं उसे चखकर देखते हैं कि वह फल श्रीकृष्ण के खाने लायक है या नहीं। ऐसा स्नेह! ऐसी घनिष्ठता! व्रज में ऐश्वर्य का कोई स्थान नहीं है। वहाँ पर वे श्रीकृष्ण को अपना घनिष्ठ मित्र मानते हैं। श्रीकृष्ण के माता-पिता उन्हें अपने बच्चे की तरह प्यार करते हैं। और श्रीकृष्ण की माता यशोदा देवी तो उन्हें अनुशासित करने का भी प्रयास करती हैं, ऐसा सोचकर कि अन्यथा कृष्ण का भविष्य ठीक नहीं होगा...। भगवान् का भविष्य ठीक नहीं होगा!! और नन्द महाराज बड़े स्नेह के साथ श्रीकृष्ण से कहते हैं, ''ओ लाला, मेरी चरण पादुका ले आ।'' यह क्या है? वे भगवान् को आदेश दे रहे हैं कि वे उनकी चरण पादुका ले आएँ!! अतएव श्रीकृष्ण दौड़कर उन चरण पादुकाओं को अपने मस्तक पर रखकर ले आते हैं। यह देखकर नन्द महाराज सोचते हैं कि उनका पुत्र बड़ा होकर बहुत ही अच्छा व्यक्ति बनेगा। श्रीकृष्ण और नन्द महाराज एक दूसरे की ओर दौड़कर गले लगते हैं।

जो भी हो, किन्तु हम श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम की तुलना किसी से नहीं कर सकते। वह अतुलनीय है। और श्रीकृष्ण की वंशी-ध्वनि! जब गोपियाँ वंशी की ध्वनि सुनती हैं तो वे सब काम छोड़कर और यहाँ तक कि अपने बच्चों को भी छोड़कर श्रीकृष्ण की ओर दौड़ पड़ती हैं। श्रीकृष्ण की वंशी-ध्वनि को सुनकर समस्त पहाड़ भी पिघल जाते हैं। इस ध्वनि को सुनकर यमुना नदी विपरीत दिशा में प्रवाहित होने

लगती हैं। यह सबकुछ इतना सुन्दर है कि स्वयं श्रीकृष्ण भी अपनी सुन्दरता और प्रेम के प्रति आर्कषित हो जाते हैं। कोई भी उनके बराबर या उनसे श्रेष्ठ नहीं है।

....

श्रीकृष्ण की मधुरता के कारण ब्रह्मा जी, जिन्हें भगवान् ने निखिल विश्व की सृष्टि का दायित्व सौंपा है, उन्हें भगवान् के रूप में नहीं पहचान सके। जब ब्रह्मा जी ने सुना कि व्रज का ग्वालबाल, श्रीकृष्ण भगवान हैं, तो उन्हें विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने सोचा कि ''ये स्वयं-भगवान् कैसे हो सकता है? ये तो मेरे द्वारा सृष्ट ग्वाला, नन्द महाराज का पुत्र है। ये भगवान् नहीं हो सकता। एक ग्वालबाल के पास कोई ऐश्वर्य नहीं होता, कदापि नहीं। भगवान् सभी ऐश्वर्यों के स्वामी हैं, पर ये श्रीकृष्ण तो ग्वालों के साथ जंगल में टहलता है और इसके पास मूल्यवान् वस्तुएँ भी नहीं हैं। ये जंगली फूलों की माला पहनता है और इसके केश में मोर पंख लगा हुआ है। कोई कैसे कह सकता है कि यह भगवान् है? एक ग्वाला भगवान् नहीं हो सकता।''

अब उस समय अघासुर नामक एक राक्षस था जो श्रीकृष्ण और अन्य ग्वाल बालकों को मारना चाहता था। अघासुर ने एक विशाल सर्प का रूप धारण किया तथा अपने मुँह को इतना चौड़ा कर लिया कि दूर से देखकर ग्वाल बालकों ने सोचा कि वे एक सुन्दर गुफा को देख रहे हैं। उन्होंने यह भी देखा कि गुफा की ओर एक रास्ता जा रहा है, जो कि वास्तव में उस सर्प-राक्षस की जिह्वा थी। अतः अघासुर के मुख को गुफा समझकर ग्वाल बालक उसमें प्रवेश कर गये और तुरन्त उस राक्षस ने उन्हें निगल लिया। जब

श्रीकृष्ण ने ऐसा होते हुए देखा तो उन्होंने अपने सखाओं को बचाने का निर्णय किया। वे उनके पीछे-पीछे असुर के मुख के अन्दर चले गये और अपने आकार को बढ़ाना शुरू किया। उनके शरीर का आकार इतना विशालकाय हो गया कि उससे सर्प का कण्ठ अवरुद्ध हो गया। इससे वह सर्प साँस नहीं ले सका तथा दम घुटने से शीघ्र ही मर गया। जब ब्रह्मा जी ने देखा कि श्रीकृष्ण ने अघासुर का वध कर दिया है, तो वे चकित होकर सोचने लगे कि, ''इस साध ारण से ग्वाले ने इतने भयंकर राक्षस को कैसे मार दिया?'' उस समय उन्होंने यह जानने का निर्णय किया कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं कि नहीं।

इस बीच श्रीकृष्ण जिन्हें वनभोजन बहुत अच्छा लगता था, अपने सखाओं के साथ एक सरोवर के तट पर पहुँचे। ग्वालबाल श्रीकृष्ण के लिए कुछ भोजन लाये थे तथा उसे उन्होंने वहाँ पहले ही पेड़ों पर लटका दिया था ताकि कोई ले न सके। जब वे उस स्थान पर पहुँचे तो उन्होंने पेड़ों से अपने भोजन की थैलियों को उतारा तथा श्रीकृष्ण को खिलाने लगे, पर ऐसा करने के पूर्व वे स्वयं उस भोजन को चखते और बाद में श्रीकृष्ण को देते। यदि भोजन अच्छा होता तो वे कहते, ''हे कृष्ण ! कन्हैया ! यह भोजन स्वादिष्ट है, इसे खा।'' तब उसे वे श्रीकृष्ण को देते।

उसी क्षण ब्रह्मा जी वहाँ पधारे और जब उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण सभी ग्वाल बालकों का जूठा भोजन ग्रहण कर रहे हैं तो वे पुनः सोचने लगे कि, ''ये भगवान् नहीं हो सकता। ये तो बस एक ग्वाला ही है।'' ब्रह्मा जी ने श्रीकृष्ण के बाएँ हाथ में चावल और दही का मिश्रण भी देखा। वैदिक शास्त्रों

में यह स्पष्ट बताया गया है कि हमें बाएँ हाथ से नहीं, बल्कि दाहिने हाथ से भोजन करना चाहिए। अतः ब्रह्मा जी ने सोचा कि ''ये दाएँ और बाएँ का अंतर ही नहीं जानता, ये भगवान् नहीं हो सकता। ये और कुछ नहीं बस एक अज्ञ ग्वाला है।'' उन्होंने यह भी देखा कि श्रीकृष्ण ने अपनी कमर में एक बांसुरी बांध रखी थी तथा अपनी बगल में एक शृंगा दबा रखा था। सभी ग्वालबाल सम्मानजनक शब्दों की बजाय सामान्य व्यावहारिक शब्दों में उससे बातें कर रहे थे। ब्रह्मा जी ने सोचा कि, ''दूर से साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करके भगवान् का सम्मान करना चाहिए। समुचित शिष्टाचार पूर्ण कथन के द्वारा उनका सम्मान किया जाना चाहिए। इस प्रकार के व्यवहार को भगवान् कैसे बर्दाश्त कर सकते हैं?''

एक मौके पर ग्वालबालों ने श्रीकृष्ण से कहा, ''हमें जाकर बछड़ों को लाना होगा नहीं तो घर वापस जाने में देर हो जायगी।'' पर श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया, ''नहीं, तुम सब यहीं रुककर विश्राम करो, मैं उन्हें ले आऊँगा।'' अब जब श्रीकृष्ण बछड़ों को ढूँढने निकले तो उन्हें कोई भी दिखाई नहीं पड़ा क्योंकि ब्रह्मा जी ने उन्हें चुरा लिया था और एक गुफा में छिपा रखा था। श्रीकृष्ण उदास हो गए और जिनको भी देखते, उनसे पूछने लगे, ''हमारे बछड़े खो गए हैं, क्या आपने उन्हें देखा है? उनके बिना मैं कैसे घर जा सकता हूँ।''

जब तक श्रीकृष्ण उस वनभोज के स्थान पर वापस पहुँचे, तब तक ब्रह्मा जी ने सभी ग्वालबालों को भी चुरा लिया था। वे उन सबको सुमेरु पर्वत की उसी गुफा में ले गए थे जहाँ उन्होंने बछड़ों को पहले छुपाया था। अब चूँकि वे सभी बछड़ों एवं ग्वालबालों को खो चुके थे, वे बैठकर

क्रंदन करने लगे। ब्रह्मा जी ने यह देखा और मुस्कुराने लगे। उन्होंने बड़ी संतुष्टि के साथ सोचा, ''भगवान् तो सब कुछ जानते हैं। अगर कृष्ण भगवान् होते तो वे बछड़ों को बलपूर्वक वापस ले जा सकते थे। पर उन्हें तो यह भी नहीं पता कि बछड़े और बालक कहाँ पर हैं तथा वे उन्हें ढूढ़ निकालने में असफल रहे हैं। अतः मेरा विचार ठीक था, ये तो एक साधारण ग्वालबालक है।'' और इस प्रकार वे वहाँ से चले गए।

ब्रह्मा जी के वहाँ से जाने के पश्चात् श्रीकृष्ण भी मुस्कुराने लगे और ब्रह्मा जी ने जितने बछड़ों एवं ग्वालबालकों को चुराया था श्रीकृष्ण ने उन सबका रूप धारण कर अपना विस्तार किया। इसलिए जब वे वापस घर पहुँचे तो गायों को इस बात का तनिक भी आभास नहीं हुआ कि उनके बछड़े खो गए हैं तथा गोप एवं गोपियों को भी इस बात का पता नहीं चला कि उन्होंने अपने बच्चों को खो दिया है। श्रीकृष्ण के लिए सबकुछ संभव है। गोप एवं गोपियाँ उन्हें अपने पुत्र के रूप में प्राप्त करना चाहते थे, इसलिए उनकी इच्छा की पूर्ति के लिए, श्रीकृष्ण उनके पुत्र बनकर उनके पास आ गए। गोप एवं गोपियाँ हमेशा यह सोचते थे कि नन्द और यशोदा कितने भाग्यशाली हैं जो श्रीकृष्ण उन्हें पुत्र रूप में प्राप्त हुए हैं। अब जबकि श्रीकृष्ण उनके अपने पुत्र बनकर उनके पास आए थे तो वे उन्हें पहचान नहीं सके पर ज्यों ही उन्होंने उनका (श्रीकृष्ण का) स्पर्श किया, उन्हें अत्यधिक प्रेम की अनुभूति हुई जो केवल श्रीकृष्ण से ही प्राप्त हो सकती है। वे आनंद के अथाह समुद्र में निमज्जित हो गए।

वृन्दावन की गइया साधारण गइया नहीं थीं। अपने

पूर्व जन्म में वे सभी ऋषि-मुनि थीं। साधारणतः गइया का अपने छोटे बछड़ों के प्रति ही स्नेह होता है, पर अब जबकि श्रीकृष्ण ने उनके बछड़ों का रूप धारण कर लिया था, तो जिन रस्सियों से वे बंधी हुई थीं उन्हें तोड़कर वे उनकी ओर भागी। यहाँ तक कि, वे कंटीली झाड़ियों के बीच दौड़ रही थीं तथा इससे उन्होंने अपने आप को जख्मी तक कर लिया था और चारों ओर से रक्त बह रहा था। ऐसा था उनका श्रीकृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम। श्रीकृष्ण के प्रति उनकी तीव्र उत्कण्ठा के कारण, श्रीकृष्ण स्वयं ही उनके बछड़ों के रूप में आ गये तथा उनका स्तनपान किया। केवल उनकी (गइया की) संतुष्टि और इच्छाओं की पूर्ति के उद्देश्य से श्रीकृष्ण पूरा एक वर्ष उनके पास रहे।

एक वर्ष के पश्चात ब्रह्मा जी वापस आए। उन्होंने उन्हीं बछड़ों और ग्वालबालों को देखा जो इसके पूर्व वहाँ पर थे। उन्होंने सोचा, ''असंभव, ऐसा हो ही नहीं सकता! मैंने उन सबको पहाड़ की गुफा में कैद कर दिया था। यह मेरी समझ के बाहर है।'' ऐसा सोचकर वे सुमेरु पर्वत की गुफा में वापस गए और देखा कि वही बछड़े और ग्वालबाल वहाँ पर अभी तक सो रहे थे। वे पुनः एकबार वृन्दावन लौटे और देखा कि सभी बछड़े एवं ग्वालबाल वहाँ पर भी मौजूद थे। तब ब्रह्मा जी स्थिति को समझे और सोचने लगे, ''सभी जीव मेरी माया से मोहित रहते हैं, पर अब मैं स्वयं ही अपने स्वामी की माया से मोहित हो गया हूँ।'' तब वे श्रीकृष्ण के पूर्ण शरणागत हो गये तथा उनसे क्षमा-याचना करने लगे। जब एकबार उन्होंने शरण ग्रहण कर ली, तब दयालु श्रीकृष्ण वहाँ प्रकट हुए और ब्रह्मा जी को प्रत्येक ग्वालबाल एवं बछड़े में

अपने विराट चर्तुभुज (चार-हाथों वाले) रूप का दर्शन कराया। तब ब्रह्मा जी ने स्तुति की—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुंजावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपांगजाय

—(भाः 10/14/1)

''आप भजन का चरम लक्ष्य हैं। मैं इसे सत्य मानता हूँ कि आप सभी कारणों के कारण और सभी अवतारों के मूल हैं। आप सब प्रकार के रसों के स्वामी हैं। आपकी अंग-कांति वर्षाधारी मेघों के समान श्यामल है। आपके वस्त्र विद्युत के समान देदीप्यमान हैं। गले में गुंजा की माला, कानों में मकराकृति कुण्डल तथा सिर पर मोरपंखों के मुकुट से आपके मुखमंडल का सौन्दर्य बढ़ गया है। विविध प्रकार के वनफूलों एवं पत्रों की माला पहनकर, वेत, श्रृंगा और वेणु को धारण करके तथा अपनी हथेली पर दही-अन्न का कवल लेकर आपका रूप अत्यन्त सुन्दर दिख रहा है।''

इस प्रकार ब्रह्मा जी ने मधुरातिमाधुर प्रभु श्रीकृष्ण की महत्ता को समझा। सम्पूर्ण सृष्टि में इनकी कोई तुलना नहीं है।

....

श्रीकृष्ण लीला में हम देखते हैं कि एक दिन नन्दभवन में कोई सेवक नहीं था। अतएव यशोदा मैया ने स्वयं ही दूध से मक्खन निकालना शुरू किया। जब वह दूध से मक्खन बना रही थीं तो बालगोपाल श्रीकृष्ण उनके पास आये। श्रीकृष्ण ने अभी चलना सीखा ही था तथा भूख लगने की लीला कर

रहे थे। उन्होंने कहा, ''मैया, मक्खन रिडकना बंद करो, मुझे भूख लगी है। मुझे दूध दो!'' इस पर यशोदा मैया ने उत्तर दिया, ''आज यहाँ कोई सेवक नहीं है और मैं व्यस्त हूँ, मुझे तंग मत कर।''

यह सुनने के पश्चात श्रीकृष्ण ने अपने सुकोमल हस्तकमल से मक्खन बनाने वाली मधानी पकड़ ली। यशोदा यह देखकर मुग्ध हो गई तथा बालक को अपनी गोद में लेकर स्तनपान कराने लगी। किन्तु उसी क्षण अंगीठी पर रखा दूध उबल कर बाहर निकलने लगा। इसलिए यशोदा ने गोपाल से कहा, ''उतर जा, दूध उबल रहा है।'' किन्तु श्रीकृष्ण की भूख शांत नहीं हुई थी इसलिए वे उतरना नहीं चाहते थे। उन्होंने कहा, ''मुझे और दूध चाहिए।'' यशोदा ने श्रीकृष्ण को जबरदस्ती नीचे उतारा और अंगीठी की ओर दौड़ पड़ीं। इससे श्रीकृष्ण बहुत क्रोधित हो गये और दही की हांडी को तोड़ने को उद्यत हुए। यद्यपि वे अपनी मैया से अभी भी भयभीत थे, उन्होंने एक छोटे पत्थर से उस बर्तन पर धीरे से प्रहार करना शुरू किया जब तक कि वह टूट नहीं गया तथा इसके फलस्वरूप पूरी दही ज़मीन पर बिखर गई। तब उन्होंने भीतरी छत पर झूल रही अन्य हाण्डियों तक पहुँचकर उन सब को भी तोड़ दिया।

कभी-कभी दूसरी गोपियाँ यशोदा मैया और नन्द महाराज से शिकायत करती कि श्रीकृष्ण बड़े नटखट हैं तथा रात्रि में उनके घरों में आते हैं। उन्होंने कहा, ''चोरों को दूर रखने के लिए हम रोशनी करके रखते हैं पर आपका पुत्र उन्हें बुझा देता है। तब वह हमारा मक्खन चुरा लेता है।'' नन्द

महाराज श्रीकृष्ण से पूछते, ''कन्हैया, क्या तुमने ऐसा किया?'' ''नहीं, पिताजी, मैंने ऐसा नहीं किया। ये झूठ बोल रही हैं।'' श्रीकृष्ण ने साधु के समान भोलेपन से ऐसा कहा। जब उनके माता-पिता ने उनका यह निर्दोष भाव देखा तो सोचा कि वो ऐसा काम कर ही नहीं सकता। गोपियों के आरोपों के उत्तर में नन्द महाराज कहते, ''मेरे पास हज़ारों गइया हैं। में व्रज का राजा हूँ। मेरा पुत्र मक्खन चुराने के लिए दूसरे के घर में क्यों जायगा?'' कारण यह था कि कभी-कभी श्रीकृष्ण दूसरों के घरों में जाया करते थे ताकि वे भी उनकी (श्रीकृष्ण की) सेवा करने का सुयोग प्राप्त कर सकें। सामान्यतः उनके माता-पिता उन्हें और कहीं जाकर खाने की अनुमति नहीं देते थे। वे स्वयं ही श्रीकृष्ण को बहुत प्रेम करते हैं। यही कारण है कि वे कभी-कभी चोरों जैसी लीला करते हैं ताकि उनके सभी भक्त उनकी सेवा करने का सुयोग पा सकें और इस प्रकार अपनी इच्छा पूरी कर सकें। अतः बाहरी तौर पर ऐसा प्रतीत हुआ जैसे मानो श्रीकृष्ण सब कुछ नष्ट कर रहे हैं तथा दही को खाकर व बंदरों को खिलाकर उसे बर्बाद कर रहे हैं। वास्तव में दही उन गायों के दूध से तैयार हुआ था जिनकी यह इच्छा थी कि वह श्रीकृष्ण की सेवा में लगे। इसलिए वास्तव में श्रीकृष्ण प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार उनकी सेवा करने का अवसर प्रदान कर रहे थे।

जब यशोदा मैया रसोई से वापस लौटी तो उन्होंने श्रीकृष्ण की शरारत देखी। उन्होंने सारे बर्तन तोड़ दिये थे और बन्दरों को खिला रहे थे। फलस्वरूप मैया उन्हें दण्डित करना चाहती थीं। मैया ने सोचा, ''अगर मैं इसे सबक नहीं

सिखाउँगी तो इसकी आदत और खराब हो जायेगी।'' इसलिए भगवान् को सुधारने के लिए यशोदा मैया ने उन्हें बेंत से पीटने का निर्णय किया। वे उन्हें अचानक पकड़ने के लिए चुपके से श्रीकृष्ण के पीछे पहुँच गई। पर जैसे ही वे उन्हें पकड़ने लगीं, श्रीकृष्ण उछल पड़े और भाग निकले। शीघ्र ही यशोदा मैया श्रीकृष्ण का पीछा पूरे आँगन में करने लगी पर जल्द ही वे थक गईं और उनकी गति धीरे-धीरे कम होने लगी। यद्यपि कोई भी श्रीकृष्ण को पकड़ने में सक्षम नहीं है, फिर भी उन्होंने स्वयं ही अपनी गति धीमी कर ली तथा मैया के शुद्ध प्रेम के कारण उन्हें पकड़ने का अवसर प्रदान किया।

यशोदा मैया ने कहा, ''ये तूने क्या किया? आज मैं तेरी बेंत से पिटाई करूँगी।'' श्रीकृष्ण अपनी मैया के हाथों में छड़ी देखकर भयभीत हो रहे थे और क्रन्दन करने लगे। यमराज भी जिनसे भयभीत रहते हैं, आज वे सर्वेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण अपनी मैया के हाथों में छड़ी देखकर डर रहे हैं। यह कैसे संभव है? यह व्रज-प्रेम है। व्रजवासी श्रीकृष्ण को भगवान् के रूप में नहीं देखते। वे केवल उन्हें तह दिल से प्रेम करते हैं।

तब यशोदा मैया को श्रीकृष्ण पर दया आ गई और इसके बदले उन्हें रस्सी से बाँध दिया ताकि वे और कोई शरारत न कर सकें। उन्होंने श्रीकृष्ण को उदर (पेट) के चारों ओर बांधने का प्रयास किया पर हर बार वह रस्सी दो पग छोटी रह जाती। बार-बार वे और रस्सियाँ लेकर आती पर हर बार वह छोटी रह जाती। इसलिए एक ओर तो हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण एक छोटे बालक की भाँति सीमित स्थिति में हैं पर वास्तव में वे अपनी ससीम प्रतीति में भी असीम रहते हैं।

रस्सी हर बार दो पग ही छोटी क्यों रहती थी? इसका क्या महत्व है? एक पग श्रीकृष्ण की कृपालुता को दर्शाता है और दूसरा उनकी निष्कपट सेवा, जिसके द्वारा हम उनकी अनुकम्पा को आकर्षित कर सकते हैं। यशोदा मैया कभी भी श्रीकृष्ण की सेवा बन्द नहीं करती थी, यही कारण है कि अंत में श्रीकृष्ण ने उन्हें स्वयं को प्रेम-रज्जू से बाँधने का अवसर प्रदान किया। हमें भी गुरु-वैष्णवों की सेवा के लिए ऐसी ही निष्कपट चेष्टा करनी चाहिए तभी हम उनकी कृपा को आकर्षित कर पायेंगे।

....

श्रील रूप गोस्वामी जी ने लिखा है—

बन्धुसंगे यदि तव रंग परिहास, थाके अभिलाष।
तबे मोर कथा राख, जेयो नाको जेयो नाको,
वृन्दावने केशीतीर्थे-घाटेर सकाश।।
गोविन्दविग्रह धरि', तथाय आछेन हरि,
नयने बंकिम दृष्टि, मुखे मन्दहास।

यदि तुम अभी भी अपने सखाओं के साथ हास-परिहास करना चाहते हो तो तुम्हें वृन्दावन नहीं जाना चाहिए। और अगर तुम वृन्दावन चले जाते हो तो तुम्हें विशेषकर केशी घाट पर नहीं जाना चाहिए। वहाँ जाने में एक खतरा है। क्या खतरा है? वह है श्रीहरी, स्वयं श्रीकृष्ण, जिन्होंने गोविन्द का रूप धारण किया है—'गोविन्द विग्रह धरि'। खतरा यह है कि यदि तुम वहाँ जाते हो और उन्हें देख लेते हो, अगर गोविन्द की एक झलक भी देख लेते हो तो तुम पुनः अपने सामान्य ग्रहस्थ जीवन के पारम्परिक मनोरंजन में नहीं लौट पाओगे।''

उनके नयनों की दृष्टि, उनका कटाक्ष बहुत खतरनाक है—'नयने बंकिम दृष्टि, मुखे मन्दहास'। वे सीधे खड़े नहीं रहते बल्कि त्रिभंग स्थिति में हैं। यदि ये श्रीकृष्ण तुम्हारे भीतर प्रवेश कर गये तो बाहर नहीं निकलेंगे। यदि नारायण प्रवेश करते हैं तो वे बाहर निकल सकते हैं क्योंकि नारायण सीधे हैं। पर श्रीकृष्ण टेढ़े हैं और ये बहुत खतरनाक है।

उनकी अंग-कान्ति वर्षा के मेघों के समान श्यामल है—'वर्ण समुज्ज्वल श्याम'। तुम देखोगे कि बसंत ऋतु में वृक्ष की पत्तियाँ बहुत ताज़ा होती हैं। उसी प्रकार श्रीकृष्ण वृद्ध नहीं हैं बल्कि वे युवा किशोर हैं। उनके मुखमंडल के होंठ बहुत खतरनाक हैं तथा यदि तुम उनके मस्तक पर मयूर पंख देख लेते हो तो तुम अपने ग्रहस्थ जीवन में वापस नहीं आ पाओगे। अतः यदि तुम अपने मित्रों के साथ हास-परिहास चाहते हो तो तुम्हें वृंदावन नहीं जाना चाहिए तथा तुम्हें श्रीकृष्ण को नहीं देखना चाहिए।

दुर्भाग्यवश हम वृंदावन जाते हैं और पुनः लौट आते हैं। हमारे अन्दर ऐसी भक्ति नहीं है। यदि किसी में गोविन्द के प्रति वास्तविक लोभ होगा तो वह अपने सांसारिक जीवन में पुनः लौट नहीं पायगा। उसके सांसारिक सम्बन्ध नष्ट हो जायेंगे। भगवान् के शुद्ध-भक्तों का संग करने से ही भक्ति के लिए अधिक से अधिक लोभ उत्पन्न होता है। उनकी कृपा से ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य, भगवान् का अप्राकृत प्रेम—कृष्ण-प्रेम प्राप्त करना सम्भव है।